

आजकल

साहित्य एवं संस्कृति का मासिक



■ इस पतझड़ में आना—असगर वजाहत ■ आज की डायरी—अनिल चमड़िया ■ जैन संस्कृति का मर्म—बिशंभरनाथ पांडे ■ अहमद फराज से बातचीत तथा उनकी दो गज़लें ■ चार कविताएं—केदार नाथ अग्रवाल; साथ में ओ.एन.वी. कुरूप (मलयालम) तथा चार पंजाबी कवयित्रियां आदि।



विंसेंट शीन

विंसेंट
शीन की प्रसिद्ध
पुस्तक 'ए ग्रेट
लाइफ इन
ब्रीफ' पहली
बार हिंदी में

गांधीजी

एक महात्मा की संक्षिप्त जीवनी

मूल्य : 50 रुपये

संपर्क :

व्यापार व्यवस्थापक

प्रकाशन विभाग

पटियाला हाउस

नई दिल्ली - 110001

वर्ष : 53; अंक : 4-5; पूर्णांक : 624;
अगस्त-सितंबर, 1996
श्रावण-आश्विन, शक संवत् 1918

संपादक
प्रताप सिंह बिष्ट

सहायक संपादक
योगेंद्र दत्त शर्मा

आवरण : धनश्याम रंजन की कृति

सज्जा : इरफान

संपादकीय पत्र व्यवहार :
संपादक 'आजकल'
प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस,
नई दिल्ली-110001; दूरभाष : 3387069

●
चंदे की दरें

एक प्रति : 5 रुपये;
वार्षिक : 50 रुपये;
विदेशों में (हवाई डाक से) एक वर्ष :
पाकिस्तान, बंगलादेश, श्रीलंका :
200 रुपये या 7 डालर
शेष विश्व : 20 डालर या 600 रुपये

चंदे व वितरण संबंधी पूछताछ :

व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
पटियाला हाउस
नई दिल्ली-110001
दूरभाष : 3387983

●
हमारे विक्रय केंद्र

नई दिल्ली : सुपर बाजार, कनाट प्लेस;
दूरभाष : 3313308

लखनऊ : 27/6 राममोहन राय मार्ग;
दूरभाष : 245785

कलकत्ता : 8, एस्लेनेड ईस्ट;
दूरभाष : 2488030

पटना : बिहार राज्य सहकारिता बैंक
बिल्डिंग, अशोक राजपथ;
दूरभाष : 653823

मुंबई : कामर्स हाउस, कतीम भाई रोड,
बालार्ड पावर; दूरभाष : 2610081

तिरुवनंतपुरम : गवर्नमेंट प्रेस के
निकट; दूरभाष : 330650

हैदराबाद : राज्य पुरातत्व संग्रहालय
बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन्स;
दूरभाष : 236393

मद्रास :

28. दो कविताएं

महिंदर कौर गिल

29. दो कविताएं

मनजीत पाल कौर

29. वृक्ष

कुलदीप कल्पना

30. गीत

मनजीत इंदिरा

30. आषाढ़ मेघ

ओ.एन.वी. कुरुप

पुस्तक चर्चा

40. एक समय था जो अभी भी है

हाल में प्रकाशित रघुवीर सहाय
के संग्रहों के बहाने उनके
रचनाकर्म पर चमल लाल

स्तंभ

2. पत्र

5. प्रसंग

43. समीक्षा

पाठकों से

आजकल को समय पर लाने के लिए
अगस्त-सितंबर 96 को संयुक्तांक
किया जा रहा है। वार्षिक ग्राहकों को
इसकी एवज में एक अतिरिक्त अंक
भेजा जाएगा ताकि उन्हें पूरे 12 अंक
मिल सकें। - प्रकाशक

लेख

7. आज की डायरी

कहा जाता है कि किसी भी समय का साहित्य उस दौर की डायरी
ही होता है। यदि ऐसा है तो फिर आज का साहित्य समाज से इतना
दूर क्यों है? साहित्य को लेकर बेचैनी क्यों है? अनिल चमड़िया
द्वारा साहित्य और समाज के संबंधों का एक विवेचन।

11. जैन संस्कृति का मर्म

जाने-माने विद्वान और चिंतक बिशंभरनाथ पांडेय का मानना है
कि निवर्तक धर्म ही जैन संस्कृति की आत्मा है। प्रस्तुत है प्रकाशन
विभाग द्वारा शीघ्र प्रकाश्य पुस्तक भारत और मानव संस्कृति से
एक अंश।

21. इस पतझड़ में आना

पत्र शैली में लिखा गया,
जाने-माने कथाकार असगर
बजाहत का हंगेरी जीवन का
अंतरंग चित्रण।

31. पात्रों की तलाश में भटकते चित्र

दूरदर्शन धारावाहिकों पर
गौरीशंकर रैणा

34. एक शताब्दी-यात्रा और नई चुनौतियां

हिंदी में बाल साहित्य लेखन पर
हरिकृष्ण देवसरे

साक्षात्कार

24. “उधार के इश्क से शायरी नहीं होती”

प्रसिद्ध उर्दू कवि अहमद फराज
से बातचीत

कहानी

9. सुरंग

अशोक गुप्ता

16. दीर्घा

ओम प्रकाश गंगोला

32. बर्लिन का घेराव

ए. दोदे (फ्रांसीसी)

36. दोषी कौन?

श्रीकारम राममोहन (तेलुगु)

कविता

6. चार कविताएं

केदारनाथ अग्रवाल

25. दो गुज़लें

अहमद फराज

25. दो नज़्में

किश्वर नाहीद

26. तीन कविताएं

राकेश रेणु

27. चिड़िया के बच्चे

मानिक बच्छावत



अनुवाद नहीं हैं हम

● मैं स्वयं पिछले कुछ वर्षों से अनुवाद कार्य में सांस लेने जैसी नियमितता के साथ जुड़ा हुआ हूँ। जर्मन से हिंदी में अनुवाद करता हूँ। गंभीर अनुवाद से जुड़े होने के कारण भी इस अंक ने विशेष रूप से आकर्षित किया। लेकिन इस अंक के कुछ लेखों, विशेष रूप से राजेंद्र यादव के लेख से पीड़ा की सीमा तक निराशा हुई और बार-बार ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे अनुवाद को लेकर राजेंद्र यादव जैसे वरिष्ठ लेखक भी गंभीर चिंतन नहीं कर रहे हैं। कुछ मूल भ्रांतियाँ हैं और एक अनुवादक के रूप में मैं पाठकों के सम्मुख अनुवाद क्षेत्र की वर्तमान तस्वीर रखना चाहूँगा।

उनका लेख आत्मबंदना से आरंभ होता है और वाद में वह अनुवाद कर्म की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि कांस्टांस गार्नेट चाहे टालस्टाय, चेखव या दोस्तोवस्की, किसी का भी अनुवाद करें, भाषा समान बनी रहती है। यही

सिद्धांत उन्होंने सभी अनुवादकों पर थोप दिया है। वास्तव में यह अनुवाद प्रक्रिया पर खरा नहीं उतरता। इसकी विपरीत स्थिति के उदाहरण के रूप में मैं विष्णु खरे के स्विस् कविता के अनूदित संकलन का जिक्र करूँगा जो *हम इस धरती के नमक हैं* नाम से (राधाकृष्ण प्रकाशन) प्रकाशित हुआ है। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार चार भिन्न भाषाएँ जो एक ही देश में एक ही समय समान परिवेश में बोली जा रही हैं लेकिन उनकी कविताओं के अनुवाद में किस प्रकार हर कवि और कविता के साथ भाषा में बदलाव आ जाता है। यहां रेखांकित करना चाहूँगा कि विष्णु खरे की अपनी कविताओं की भाषा में इन अनुवादों की भाषा से दूर का रिश्ता नहीं मिलता है। दरअसल अनुवाद करते समय मूल की भाषा को सकारात्मक ढंग से आत्मसात करने के बाद ही अनुवाद की भाषा का जन्म होता है।

राजेंद्र यादव की इस टिप्पणी से अवाक रह गया हूँ कि 'सभी अनुवाद या तो मूल के साथ बेईमानी करते हैं या अपनी भाषा के साथ।' आगे चलकर वह अपने मित्रों की टिप्पणी के माध्यम से कहते हैं कि स्वयं उनके अनुवाद बुरे नहीं हैं, यानी कि अच्छे हैं, तो मेरा प्रश्न है कि आखिर उन्होंने किस भाषा के साथ बेईमानी की है। भूल (जो कि जाहिर है चेखव के अनुवाद के लिए अंग्रेजी ही थी) या फिर हिंदी के साथ। 'तत्त्वतः देखें तो

हर रचना एक स्तर पर अनुवाद ही है।' यह महान सूक्ति अनुवाद के दार्शनिकीकरण का अजीब-सा प्रयास भर लगती है। वास्तव में लेख का शीर्षक ही फूहड़ किस्म का है।

'हमारी मजबूरी है कि दुनिया की हर भाषा की रचना को हम अंग्रेजी में पढ़ने को अभिशप्त हैं।' मैं इससे सहमत नहीं हूँ। आज न जाने कितनी मूल से अनूदित कृतियाँ 'व्यावसायिक' नहीं, साहित्यिक कारणों से *पहल* में छपती हैं जिसमें यादव जी का प्रिय अश्वेत साहित्य भी शामिल है।

मूल भाषा का वाक्य-विन्यास अनुवादक की सोच पर छा जाता है, यह बात आंशिक रूप से सही हो सकती है, वह भी हर अनुवादक के लिए अलग-अलग स्तर पर।

'अनुवाद उस व्यक्ति से संपादित कराना चाहिए जो न मूल जानता हो न रचना', मेरे विचार में ऐसा संपादक रचना का बलात्कार भर कर सकता है। *राग दरबारी* का अंग्रेजी अनुवाद इसकी चीख-चीखकर गवाही दे रहा है।

वह लिखते हैं कि सार्त्र की कुछ कहानियों, नाटकों के अनुवाद के अलावा इधर कुछ सामने नहीं आया है। भला यह किसका दोष कहा जाए कि यादव जी को साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित सार्त्र की आत्मकथा *शब्द* नहीं नजर आई।

राजेंद्र यादव को यह जानना

अच्छा लगेगा कि पिछले तीन वर्षों में *जीभ दिखाना* (ग्युंटर ग्रास; अनु. विष्णु खरे), *स्विस् कहानियों का अमृत मेहता द्वारा अनुवाद*, *डेमियान* (हेरमन हेसे), *शपथ* (फ्री ड्यूरनमट), *हम चीखते क्यों नहीं* (जर्मन कविता संकलन; संपादक और अनुवादक विष्णु खरे) प्रकाशित हुए हैं जो सभी मूल से अनूदित हैं। ये सभी काम जर्मन-हिंदी क्षेत्र में हुए हैं। संभव है, दूसरी भाषाओं में भी समान हलचल हो। यह भी उल्लेखनीय होगा कि आगामी वर्ष में योजेफ रोट का *योजेफ, चक्के तले* (हेरमन हेसे), *पिता को पत्र* (फ्रांत्स काफ्का), पाट्रिक ज्यूसकिंड के विश्व प्रसिद्ध उपन्यास *दास परफ्यूम* का *इत्र* नाम से अनुवाद प्रकाशित हो रहा है।

लेखक के पास धैर्य कहां कि वह अपना लिखे और अपनी मनपसंद कृति का अनुवाद करे! यदि लेखक मात्र ही अच्छे अनुवादक होते तो रवींद्रनाथ ठाकुर सर्वश्रेष्ठ माने जाते। अच्छे लेखक अच्छे अनुवादक भी होते हैं—यह भ्रांति जितनी जल्दी दूर हो उतना अच्छा।

हरदयाल ने पहले कभी अनुवाद पर कुछ लिखा है, याद नहीं पड़ता। उनके इस क्षेत्र में दखल के दो शानदार उदाहरण लेख में मौजूद हैं। इनसे उनसे आगे बहस की गुंजाइश खत्म हो जाती है। कबीर के दोहे, 'राम नाम छूट' के दो अनुवाद हैं—एक है घटिया उदाहरण (चार्ल्ट वडविले) तो दूसरा बेहतरीन (सुखदेव कुमार)। हकीकत विल्कुल विपरीत है।

पहला तथाकथित घटिया अनुवाद भापाई स्तर पर बिना कवित्व का दंभ हांके मूल के बहुत करीब जाता है जो कि मेरे विचार से अच्छी बात है तो दूसरा भापाई स्तर पर अनपढ़ जुलाहे की तस्वीर देने की जगह कीट्स या शैली की कविताओं का रंग देता है। जानना चाहता हूँ कि 'फीस्ट आफ लव' का राम नाम से क्या संबंध है? 'गोल्डेन मोमेंट्स' कवीर के दोहे में कहाँ है? 'फारेवर' का जिक्र मूल में कहाँ है?

विष्णु खरे के 'हरा चेक' कविता के अनुवाद को तो पढ़ा ही गलत गया है। खरे ने लिखा था :

He gave me a cheque so
that I may not/cash it.

लेकिन हरदयाल ने बिना अंग्रेजी कविता के मीटर को समझे ही पढ़ डाला :

He gave me a cheque so
that I may not cash it.

यही कारण है कि उन्हें 'वस' का अनुवाद नहीं नजर आया।

फ्रीड के अनुवाद पर चर्चा करते समय विनोद शर्मा यदि प्रकाशकों की इस घटिया परंपरा की ओर इशारा कर देते जो व्याकरण की गलतियों को संपादन के कुछ सौ या हजार रुपये जैसी रकम बचाने के लिए जैसे का तैसा छाप देते हैं तो कहीं बेहतर होता।

— महेशदत्त, फरीदाबाद

अनुवादों की जरूरत

● अनुवाद पर चर्चा के बहाने आपने ध्यान आकृष्ट करने की जो कोशिश की है वह स्तुत्य है। इस पर वहस होनी चाहिए और आम पाठकों की भी राय ली जानी चाहिए। अंग्रेजी भाषा पर हम आश्रित क्यों रहें? आज अनेक अनूदित पुस्तकें ऐसी आ रही हैं जो भारत की ही किसी भाषा के अंग्रेजी अनुवाद का अनुवाद होती हैं। यह दुखद स्थिति है।

पश्चिम से कुछ सीखना ही है तो उनकी प्रतिबद्धता, उनकी एकनिष्ठता को अपनाएं। जहां भिन्न-भिन्न साहित्य मनीषियों एवं विद्वानों ने अनुवाद के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्षों पर चिंतन-मनन किया है किंतु भारत में अनुवाद की समस्याओं, कठिनाइयों एवं अनुवाद प्रक्रिया तथा प्रविधि अध्ययन की कोई ठोस परंपरा नहीं अपनाई गई है। इस पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। आज वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी क्षेत्र में नित नई उपलब्धियों ने विश्व की दूरियों को लगभग मिटा दिया है फिर भी भाषा के क्षेत्र में भेद तो है और रहेगा भी। ऐसे में भाषाओं की भिन्नता के कारण उनमें संवाद का एकमात्र सेतु अनुवाद ही हो सकता है। अनुवाद राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव और आदान-प्रदान का एक अनिवार्य माध्यम तो है ही, भूत, वर्तमान और भविष्य को जोड़ने वाली एक कड़ी भी है। भारत जैसे बहुभाषी देश में तो अनुवाद राष्ट्रीय एकता की सहज सीढ़ी और

सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान का साधन है।

हम मानते हैं कि मूल रचना के रसास्वादन में जो संतुष्टि मिलती है वह अनुवाद में कहाँ, पर यह भी तो संभव नहीं कि आदमी विश्व की सभी भाषाएं सीख सके। यदि हिंदी पाठक वर्ग अनुवाद का सहारा न ले तो क्या 'रात भर वर्षा' (बुद्धदेव वसु), 'अंकल टाम्स केबिन' (हैरियट वीचर स्टो), रचनाकारों में रवींद्रनाथ ठाकुर, सआदत हसन मंटो, तसलीमा नसरीन, इलिएट, होमर, डॉलस्टाय, दोस्तोवस्की, पुश्किन, चेखव, गोर्की आदि को जान पाएंगे?

पर अनुवाद ऐसा होना चाहिए कि मूल भाव नष्ट न हो। यह तभी संभव है जब अनुवाद मूल पाठ से हो, अनुवादक ने स्वयं उसका रसपान किया हो तथा किसी पूर्वाग्रह के बिना अनुवाद किया गया हो। हम आशा करते हैं कि आज के अनुवादक किसी तीसरी भाषा को माध्यम नहीं चुनेंगे और यथासंभव उपमाओं, बिंबों, प्रतीकों, अभिव्यंजनाओं एवं बाहरी रूप को अक्षुण्ण रखकर मूल रचना के समकक्ष अनुवाद को रखेंगे।

—दुरंत विश्वास, हजारीबाग

● राजेंद्र यादव का 'खुद कहीं अनुवाद हैं हम' बहुत अच्छा लगा। अनुवाद चाहे जितना भी सटीक हो, मूल रचना की आत्मा खो-सी जाती है। कहानियों में 'एक ईमानदार शहर' एवं 'शरीर' दिल को छू गई। वर्तोल्ल ब्रेख्त की लघुकथाएं भी अच्छी थीं।

'आलमगीर' नाटक के दो दृश्य देकर आपने हमें भूले हुए इतिहास में एक बार फिर जाने को प्रेरित किया है।

'बाजार का परिप्रेक्ष्य' में बिल्कुल सही मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। अभी भी अच्छी साहित्यिक पुस्तक के पाठकों की कमी नहीं है। यद्यपि महंगाई भी कम बड़ा मुद्दा नहीं है।

—अजेश कुमार, जमालवर

संस्कृत की परंपरा

● विवेचनतः संस्कृत साहित्य में उपन्यासों की परंपरा हिंदी तथा अन्य भाषाओं के अद्यतन उपन्यासों से कथ्य, शिल्प तथा वर्ण्य की दृष्टि से बिल्कुल अलग प्रतीत होती है। संस्कृत का 'उपन्यास' शब्द वैदिक संहिताओं से प्रयुक्त हुई अवधारणा है, वहीं 'नावेल' पश्चिम की अनुकृति है। इसलिए दोनों को एक तरह से देखने और समझने की बाध्यता नहीं होनी चाहिए। सही अर्थों में विभिन्नता का मूल कारण साहित्यिक स्पर्धा नहीं, बल्कि संस्कृत में आख्यानकों द्वारा विशिष्ट भावात्मकता के साथ लौकिक परक कथावृत्त का पुष्पित, पल्लवित और विकसित होना है।

संस्कृत में चंपू काव्य के अंतर्गत ही, गद्य और पद्य दोनों का आद्यंत मिश्रित प्रयोगयुक्त आख्यान सृजित होता है। इस दृष्टि से संस्कृत में हिंदी तथा समकालीन भाषाओं की तरह 'उपन्यास' की कल्पना परंपरा जीवित नहीं लगती। चंपू के अंतर्गत ही परिष्कृत साहित्य के

रूप में आख्यानकों का विस्तार संस्कृत की अनुपमता है। पंडितराज जगन्नाथ ने इस ओर संकेत करते हुए ही 'गद्यपद्यमयं काव्यं चंपूरिव्यभिधीयते' कहकर इस चंपू परंपरा को परिभाषित किया, जो हिंदी और अन्य भाषाओं में उपन्यास तथा समकक्ष विधा के रूप में प्रकट हुई।

संस्कृत में चंपू का विकास नितांत अलौकिक परिवेश तथा सृजनात्मक धरातल पर हुआ, जबकि हिंदी और अन्य समकालीन साहित्य आधुनिक परिवर्तनों की उपज हैं। संस्कृत में आज की औपन्यासिक परंपरा को खोजने और जोड़ने की चेष्टा में आर्ष ग्रंथ ही सहायक होंगे; पश्चिम का नावेल नहीं। यह अपेक्षा बनती है कि संस्कृत के साहित्यिक स्वरूप की स्पष्ट जानकारी प्राप्त करने और कराने के लिए ईमानदार प्रयत्न हों। वहीं अनुवादों ने संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के बीच खाई पाटने का सराहनीय प्रयत्न किया है। उसे आम पाठक तक पहुंचाने का दायित्व भी संस्कृत विद्वानों, प्रकाशकों को उठाना पड़ेगा तथा चंपू परंपरा को संचार क्रांति से जोड़ने का अभिनव प्रयोग भी। अगर ऐसा करने में हम अंशतः भी सफल हुए तो यह शक्तिशाली काव्य विधा अनेक उपविधाओं को जीवित कर सकेगी।

— वरुण कुमार मिश्र,
गोपालगंज

पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टि

● जगदीश त्रिपाठी का लेख

'संस्कृत की औपन्यासिक परंपरा' पढ़ा और यह जानकर आश्चर्यचकित हुआ कि आज से हजारों साल पूर्व से ही संस्कृत में उपन्यास लिखे जाते रहे हैं (यदि सूचना सही है तो!)। तब क्या यह मान्यता एकदम वेबुनियाद है कि उपन्यास आधुनिक व पाश्चात्य विधा है? लेखक ने जिस अत्याधुनिकता की बात पांचवीं-छठी शताब्दी में ही की है क्या वह साहित्य के क्रमिक विकास को देखते हुए कुछ नहीं लगती? यदि यह सब सत्य है तो फिर लेखक ने किसी हिंदी या बंगला या अंग्रेजी उपन्यास पर संस्कृत उपन्यासों का प्रभाव क्यों नहीं दिखाया? जब त्रिपाठी दंडी के उपन्यासों में ही निम्नवर्गीय प्रसंगों का अनुसंधान करने लगते हैं तो क्या वह पूर्वाग्रहग्रस्त नहीं हो गए हैं? साथ ही जिन आख्यायिका आदि की चर्चा लेखक ने की है उनका मर्म कुछ समझ में नहीं आता।

— ब्रजेश कुमार मिश्र,
इलाहाबाद

पते नोचने से क्या होगा?

● 'पश्चिम का पूरववाद' श्रेष्ठ आलेख है। धन्यवाद। अनुवाद पर प्रचुर सामग्री है, ज्ञानवर्धक भी और विचारोत्तेजक भी। सुरजीत पातर की कविता का अनुवाद 'अकाल' अकाल की पोल खोल रहा है। कहानियां भी बहुत अच्छी हैं।

अभी तसलीमा जी पर की गई चर्चा पढ़ रहा था। जमकर

तारीफ की है यदुनाथ मुखर्जी ने। बहुत नाम हुआ तसलीमा का, विवादों में धंसकर। लज्जा की बहुत चर्चा होती थी। अनुवाद आया, पूरा पढ़ डाला। कुछ नहीं, खास कुछ नहीं। झटके देने की कोशिशें मात्र। उनके इंटरव्यू भी पढ़े हैं।

तसीलमा जी धर्म के विरोध में बोलती रहती हैं। अच्छा है। धर्म पर आक्रमण आवश्यक है, परंतु संपूर्णता के साथ, वैज्ञानिकता के साथ। यदि हमले टुकड़ों में होंगे तो धर्ममूढ़ों को खुजली भर आएगी, फंडामेंटलिज्म और बढ़ेगा। यदि आप 'इनफैक्ट' और 'इनइफैक्ट' 'सोशल कंस्ट्रक्शन' के हामी हैं तो 'साइंटिफिक विजन' को औजार बनाकर धर्म व इसके बाहर के तमाम कुसंस्कारों पर आक्रमण कीजिए। नहीं तो, कम से कम चुप रहिए। इसकी 'प्लूनिंग' मत करिए। इसकी सड़ी जड़ों को तलाशिए, नष्ट कीजिए, इसके पते नोचने से क्या होगा?

— मनोज, दरभंगा

औरत का हक समाज का हक

● 'शरीर' कहानी जहां मानवीय संवेदना को स्पर्श करती है वहीं 'एक ईमानदार शहर' आज के जीवन को पूर्णरूपेण उकेरकर रख देती है। सबसे अधिक तसलीमा नसरीन की समीक्षा ने प्रभावित किया। सचमुच औरत के हक में जो कुछ है क्या वह पूरे मानव के हक में नहीं है? आज

आवश्यकता है कि औरत को बेवसी, लाचारी या दया का पात्र न समझा जाए बल्कि प्यार तथा सम्मान मिले। प्यार में एक जो अपनापन होता है वह दया में कदापि संभव नहीं। नसरीन के प्रति सामाजिक प्रतिक्रिया समाज के खोखलेपन तथा बुद्धिजीवियों की निरी मूर्खता वाली आदर्शपरकता को उजागर करती है। लेकिन कुछ जानकारी अधूरी-सी लगी जैसे उपेंद्रनाथ 'अशक' द्वारा लिखित पुस्तकों की सूचना नहीं है। वहीं नसरीन की पुस्तक लज्जा पर भूले से भी कलम नहीं चली है।

— शैलेंद्र कुमार, परसौनी,
सीतामढ़ी

सामान्य पाठक का वास्ता

● इधर आजकल के कई अंक एक साथ देखने को मिले हैं। सभी बहुत पठनीय हैं। खासतौर पर फरवरी अंक जो अनुवाद केंद्रित है। संस्कृत उपन्यासों पर सामग्री देकर आपने उन लोगों का भला किया है, जिनके लिए संस्कृत मृतभाषा मात्र है। लेकिन यह स्मरण रखें कि आजकल कोई शुद्ध साहित्यिक पत्रिका नहीं है। इसे पाठकों से भी जुड़े रहना है जिन्हें सैद, रिल्के जैसे विद्वानों की गरिष्ठ बहसों, मुद्दों से अधिक लेना-देना नहीं है। इसमें सर्जनात्मक साहित्य अधिक छापिए तो सामान्य पाठकों से भी इसका संवाद बना रह सकेगा।

— वेद प्रकाश अमिताभ,
अलीगढ़

खेल और लेखक

खेल आधुनिक जीवन में मनोरंजन का एक महत्वपूर्ण माध्यम हो गए हैं। समाचारपत्र और संचार माध्यम जितना महत्व आज खेलों को देते हैं, उतना शायद ही किसी और माध्यम को देते हों। अभी पिछले दिनों समाप्त हुए यूरो-96 फुटबल मैचों पर लंदन के एक अखबार ने प्रसिद्ध 'येजी' उपन्यासकार बुकर पुरस्कार प्राप्त लेखिका ए.एस. वायट से विशेष तौर पर लिखवाया।

पश्चिम में यह परंपरा पुरानी है। अर्नेस्ट हेमिंग्वे स्पेन की प्रसिद्ध बुलफाइट और वार्किंग की प्रतियोगिताओं पर

लिखते रहे हैं। प्रसिद्ध उपन्यासकार गेब्रियल गार्सिया मार्खेज भी बुलफाइट के अलावा फुटबल मैचों पर लिखते हैं। हमारे देश में अंग्रेजी कवि डॉम मॉरिस क्रिकेट पर यदा-कदा कलम चलाते हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री और लेखक अशोक मित्र ने तो इस विश्व कप क्रिकेट

के दौरान कलकत्ता के दैनिक *टेलिग्राफ* में कई रिपोर्टें लिखीं। पर हिंदी में यह परंपरा लगभग नहीं है। हिंदी लेखक खेलों में बिल्कुल रुचि न लेते हों, यह तो संभव ही नहीं है पर लिखते क्यों नहीं—यह प्रश्न है! वैसे भी हिंदी में शायद ही कोई कहानी या उपन्यास हो जो पूरी तरह खेल

की पृष्ठभूमि पर लिखा गया हो। मुद्दा विचारणीय है। इसके दो संभावित कारण हो सकते हैं। पहला हिंदी साहित्यकार एक ऐसा जीव है जो सतत गंभीरता में जीता है। दूसरा, हिंदी अखबार वाले अपनी चिरंतन जड़ता में लेखकों को ही इस लायक न मानते हों कि उनसे खेलों पर लिखने के लिए कहें।

खैर, हमने सुना था कि डा. रामविलास शर्मा क्रिकेट के खासे प्रेमी हैं। पिछली विश्व कप क्रिकेट प्रतियोगिता के दौरान, हमारी इच्छा हुई कि क्यों न एक मैच पर उनसे लिखने को कहें, पर चाहते हुए भी संपादक की हिम्मत भारतीय टीम के कलकत्ता के प्रदर्शन के कारण ऐन मौके पर जवाब दे गई।



हिंदू से साभार

घटनाक्रम

● **राजकुमार**—प्रसिद्ध फिल्म अभिनेता—का पैसठ वर्ष की आयु में मुंबई में निधन (3 जुलाई)। पुलिस इंस्पेक्टर की नौकरी छोड़कर राजकुमार ने 1953 में एम. एंड टी. फिल्म की नजम नकवी द्वारा निर्देशित फिल्म *रंगीली* से अपना फिल्मी सफर शुरू किया था। *मदर इंडिया*, *दिल अपना और प्रीत पराई*, *हमराज*, *दिल एक मंदिर*, *वक्त*, *पाकीजा*, *पैगाम* आदि कई मशहूर फिल्मों में उन्होंने काम किया था। बुलंद आवाज और विशिष्ट संवाद शैली के लिए प्रसिद्ध

राजकुमार ने मुंशी प्रेमचंद के उपन्यास *गोदान* और कहानी *हीरा मोती* पर बनी फिल्मों में भी अभिनय किया था।

● **कृष्णा सोबती व विद्यानिवास मिश्र** को साहित्य अकादमी की महत्तर सदस्यता से सम्मानित किया गया (15 जुलाई)।

● **पांडुरंग शास्त्री आठवले**—प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक को समुदाय नेतृत्व के लिए इस वर्ष का रेमन मेगसेसे पुरस्कार देने की घोषणा (16 जुलाई)।

● **लक्ष्मीकांत वर्मा**—प्रसिद्ध हिंदी साहित्यकार—को इलाहाबाद हिंदुस्तानी अकादमी सम्मान दिया गया (26 जुलाई)। 15 फरवरी 1922 को करौटी (उत्तर प्रदेश) में जन्मे श्री वर्मा उन लेखकों में हैं जिन्होंने साहित्य की कई विधाओं में लिखा है। *धुरं की लकीर*, *अतुकांत*, *तीसरा पक्ष*, *कंचन मृग* उनके प्रसिद्ध काव्य संग्रह हैं। *खाली कुर्सी की आत्मा* उनका मशहूर उपन्यास है। *नए प्रतिमान*, *पुराने निकष* और *नई कविता के प्रतिमान* उनकी

आलोचना पुस्तकें हैं। श्री वर्मा नई कविता के प्रवक्ताओं में से एक रहे हैं और हिंदी कविता में 'लघुमानव' के प्रवर्तक हैं।

हिंदुस्तानी अकादमी ने लेखकों को सम्मानित करने की परंपरा 24 साल के बाद फिर से शुरू की है। इससे पहले मैथिलीशरण गुप्त, मुंशी प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल, परशुराम चतुर्वेदी और रामनरेश त्रिपाठी को यह सम्मान दिया जा चुका है।

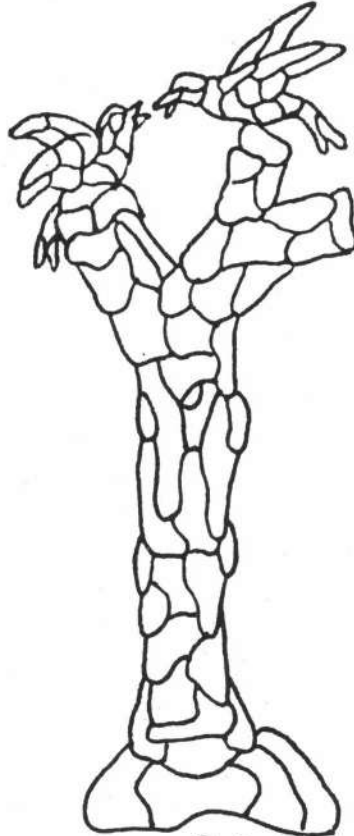
प्रस्तुति : रामनारायण स्वामी

बुलंद है हौसला

बुलंद है हौसला
जीवंत जीने का
इस बुढ़ापे में।
दुर्लभ देह को
अब भी
संभाले हैं
हड्डियां और मांसपेशियां।
न सही बलीन
अबलीन
भी नहीं हूं
कि ढह जाऊं
ढेर हो जाऊं
समाप्त हो जाऊं
न मैं रहूं मैं
न पृथ्वी रहे मेरे लिए
न मैं रहूं पृथ्वी के लिए।

बूढ़ा पेड़

हाड़-मांस का
मैं हूं बूढ़ा पेड़
मैं हूं अब भी
प्राणवंत जीवंत।
मेरी भाषा की शाखाएं
अब भी
रुचिकर रचनाओं के रूप में
कविताएं देती रहती हैं
और मौसमी
गंध बांटती रहती हैं।
पूर्ण प्रहर्षित —
पूर्ण प्रफुल्लित
मैं जीता हूं एक-एक क्षण
क्षुब्ध नहीं होता हूं मैं अब भी।



शिरीष ६४

रेखांकन : शिरीष

५

पांव हैं
पांव
भूतल के पं
ग्राह्य गंतव्य
अभिप्राय हैं
चरित्र को
ठांव-ठांव हैं
पांव हैं पांव

गई बिजली

गई बिजली!
यातना का शिविर मेरा घर हुआ!
अंधे अंधेरे ने मुझे अंधा बनाया :
और मैं —
गुमसुम रहा—खोया रहा,
देह अपनी टोहता, जीता रहा
कभी बैठा रहा, कभी लेटा रहा
याद करता रहा एक-एक को
चिंतारहित मैं सबको
अविचलित मैं
चितन और मनन से
चेतना को खोजता ही रहा मैं
प्राप्त करने में लगा ही रहा मैं
सृष्टि के प्रारूप की संरचना
करने में ही व्यस्त रहा मैं !

आज की डायरी

साहित्य और समाज के संबंधों पर अनिल चमड़िया

आज का साहित्य क्या हो सकता है? यह प्रश्न हमारी बातचीत का केंद्र नहीं था। चिंता इस पर प्रकट की जा रही थी कि कुछ लिखा क्यों नहीं जा रहा। सब जगह सन्नाटा है। नाटक वाले परेशान हैं। पत्रिकाओं का हाल बेहाल है। कहानियां पन्नों को बस भर रही हैं। कविताओं को तो कोई देखना तक नहीं चाहता। प्रकाशक कविताओं का नाम सुनते ही विदक जाते हैं। कवि अपनी जेब से खर्च कर प्रकाशक के बैनर का इस्तेमाल करना चाहता है, उसकी भी मंजूरी नहीं। कोई बढ़िया उपन्यास कितनी पुरानी बात हो गई है जैसे। पत्रकार भी कम उखड़े-उखड़े नहीं रहते। कहते फिरते हैं—परिवार पालना है, इसीलिए नौकरी जरूरी है। कोई बढ़िया रिपोर्ट नहीं लिख पा रहा। पत्रिकाएं जो निकल रही हैं, उन्हें पढ़ने की एक मजबूरी-सी है, क्योंकि छपे अक्षरों से कुछ पुराना लगाव-सा बना हुआ है। आदत और मोह इतनी जल्दी त्याग्य कहां होते हैं!

आखिर तब किया क्या जाए? टी.वी. और फिल्मों का भी हाल तो बुरा है। पहले दूरदर्शन पर एक-दो बढ़िया सीरियल आए। अब तो टी.वी. खोलने का भी मन नहीं करता। केवल गाने और फूहड़ किस्म के कार्यक्रम होते हैं। बच्चे अलग बिगड़ जाते हैं। परिवार के साथ तो टी.वी. देखना संभव नहीं। अश्लीलता की भी हद होती है। यहां तो शर्म से गदन झुक जाती है। आखिर क्यों नहीं अच्छे प्रोग्राम तैयार कराए जाते हैं? इस पर फिल्म बनाई जा सकती है। उस पर कितना बढ़िया सीरियल तैयार किया जा सकता है!

चिंता के केंद्र उभरकर सामने आ गए थे। अरुण जी से मैंने कहा था कि आज तो लिखने के लिए बस एक ही चीज है, वह है—आज की डायरी। हम जिस दौर से गुजर रहे हैं, उसका एक-एक क्षण महत्वपूर्ण है। एक-एक घटना का अपना असर है। लोगों की बोलचाल में आने वाले शब्द गौरतलब हैं। जिन विषयों पर चर्चा हो रही है उन्हें लिपिवद्ध करने की जरूरत है। कौन-सा परिवार किन कारणों से बिखर रहा है, उसे हू-ब-हू कागज पर उतार लेने की जरूरत है। कौन-से विज्ञापन आ रहे हैं, उनकी शक्तों को किसी फाइल में चिपका देने की जरूरत है। बच्चों में जो गति दिखाई दे रही है, उसे समझ लेने की जरूरत है। जो नए-नए यंत्र-तंत्र विकसित हो रहे हैं, उन्हें पहचान लेने की जरूरत है। लेकिन इन तमाम बातों के साथ सबसे महत्वपूर्ण या कहिए कि एकमात्र खास बात यह है कि इन सबको लिखने या रिकार्ड करने के साथ इस परिवर्तन के साथ जो भीतर भाव पैदा होते हैं, जो, क्षोभ, पीड़ा, टीस पैदा होती है, जो विश्लेषण पैदा होते हैं, जो समाज की कल्पना मन में उभरती है उसे रेखांकित भर करना चाहिए। बिना किसी क्राफ्ट—शैली

के। बिना भाषा की सुगढ़ता की परवाह के। बिना किसी शीर्षक के। बस पात्र का ढीला-ढाला हुलिया जरूर होना चाहिए।

दरअसल यह चिंता फोन पर बातचीत के बीच में आई थी। इसीलिए इसकी जमीन तत्काल नहीं बन सकी लेकिन दिमाग आज के साहित्य के पीछे दौड़ रहा था। फोरम, प्रस्तुतीकरण और हो सके तो एक नई विधा की तलाश जारी थी। इसी बीच देहरादून में दलित साहित्यकारों का एक कार्यक्रम हो गया। इनकी चिंता थी कि दलित साहित्यकारों को क्यों नहीं पूछा जा रहा है। यह बात अटपटी-सी लगी। आज जबकि साहित्य पर संकट आ पड़ा है तब दलित साहित्यकार अपने ऊपर संकट का प्रश्न खड़ा क्यों कर रहे हैं? साहित्य का संकट इनके संकट के साथ क्यों नहीं जुड़ा है? दलित साहित्यकार आ जाएंगे तो क्या दलित जमात भी साहित्य से जुड़ जाएगी और साहित्य की गाड़ी चल पड़ेगी, लेकिन यह शोध निरर्थक था। दलित ही क्या, सामान्य जन समुदाय साहित्य में आता रहा है, फिर भी साहित्य की गाड़ी को यहां फंस जाना पड़ा है। दलितजन भी इसीलिए परेशान नहीं हैं कि दलित जाति के साहित्यकारों की रचनाएं नहीं छप रही हैं। किसी जाति और धर्म का साहित्यकारों की जमात में प्रतिष्ठित प्रतिनिधित्व हो जाने से समस्या का समाधान हो जाए तो फिर साहित्य के संकट का सवाल ही नहीं उठता।

अतः फिर बात शुरू हुई। देहरादून में ही सुभाष पंत और ढेरों साथियों के बीच। केवल सुभाष पंत का नाम इसलिए रखा क्योंकि उनके एक संस्मरण से बातचीत की कड़ी जुड़ती है। लेकिन उसके पहले एक बात कहनी है। हम सबने यह महसूस किया कि आज सबसे बड़ा महत्वपूर्ण काम यह है कि हम हर क्षण की अपनी-अपनी डायरी लिखें। जो समझते हैं, जो सोचते हैं वे सब के सब। यह हमारी बातचीत का सार था। क्योंकि हम इतनी बहस कर चुके थे कि आज जिस लोकतंत्र की बात की जा रही है, वह हमें दिया जा रहा है। यानी कोई हमें कुछ दे रहा है। देने और लेने के भाव के साथ लोकतंत्र का प्रवाह हमारे भीतर किया जा रहा है। क्या इन भावों के साथ भी लोकतंत्र होता है? लोकतंत्र तो स्वभाव है। स्वभाव की बुनावट विकास की प्रक्रिया में स्वतः होती रहती है। साक्षरता के नाम पर अक्षर ज्ञान कराया जा रहा है। इसकी जरूरत क्या थी? जो अक्षर ज्ञान से नावाकफ थे, इससे उनका क्या बिगड़ रहा था? जैसे मध्यप्रदेश के जंगलों के आदिवासी घास, जड़, कंद-मूल, फूल-पौधे कुछ भी खाएं, किसी को क्या परेशानी? लेकिन अब उन्हें गेहूँ-चावल खाना सिखाया जा रहा है। इसकी जरूरत कहीं दूसरों

को तो नहीं? महिलाएं घर से निकलेंगी तो मानव संसाधन बढ़ेगा। सारे संसाधनों की ज्यादा से ज्यादा दुहने की योजना चल रही है। हमारे बीच से किसी ने कहा, आज जो लोग या देश या देशों का समूह हमें जो देना चाहता है वह हमारे विकास की दुहाई देता है। लेकिन कोई यह क्यों नहीं सोचता कि वे तो हमसे विकास के मामले में आगे ही बने रहेंगे। यानी विकास का मार्गदर्शन करते रहेंगे। हमारे इस विकास के नाम पर उनका कितना विकास हो रहा है यह भी सोचने वाली बात है। दरअसल इतनी सारी बातें होने के बाद ही सुभाष पंत ने कहा—हो सकता है, कल हम इतना सोचने की स्थिति में भी नहीं हों। इसीलिए आज की डायरी लिखने की जरूरत है। अपनी इस बात पर जोर देने के लिए उन्होंने यह किस्सा सुनाया।

वह कुछ समय पहले इंग्लैंड में थे। वह इंग्लैंड में घूम-फिरकर अपने समाज और देश से तुलना करने की कोशिश कर रहे थे। इंग्लैंड की सड़कों पर घूमते-घामते उन्हें गरीबी भी दिखी। बेहद दर्दनाक और पीड़ादायी। उन्हें कोफ्त भी हुई। मगर वह क्या कर सकते थे? साहित्यकार के नाते उसका किसी कहानी या रचना में उल्लेख भर कर सकते थे। वह नहीं किया, यह अलग कहानी है। लेकिन साहित्यकार इंग्लैंड में जाकर उपभोक्ता न बने, यह शायद सुनना किसी को अच्छा नहीं लग सकता। वह एक चीज खरीदने एक दूकान पर गए। वहां चीजों पर कुछ विशेष छूट दी जा रही थी। उन्होंने चीजें खरीद लीं। महिला दुकानदार से बिल देने के लिए कहा। महिला लाचार थी। क्योंकि उसका बेटा दुकान पर नहीं था। बेटा न होता तो भी अगर वह कैलकुलेटर जैसी किसी चीज के बटन दबाना जानती तब तो तड़ाक से बिल थमा देती। इसीलिए महिला ने उन्हें इंतजार करने को कहा। लेकिन पंत साहब ने इंतजार करने के बजाय चीज की कीमत देखी और जितने प्रतिशत की छूट थी उसे मूल कीमत से घटाकर राशि बढ़ा दी। यह देख कर महिला चकित रह गई। उन्होंने हैरान होकर कहा कि क्या सचमुच आपने बिना कैलकुलेटर के ठीक जोड़ा है? जाहिर है, पंत जी ने हां कहा। तब तक बेटा वापस आ गया। बेटे ने अपनी मशीन से फिर हिसाब जोड़ा। उतनी ही राशि आई। उसकी मां ने तब पंत जी से इस हिसाब का फार्मूला यह कहते हुए लिखवा लिया कि हालांकि यह मशीन कभी खराब नहीं होती है फिर भी काम आएगा।

यह बात कोई हिसाब-किताब की नहीं है। यह एक प्रक्रिया की है। यानी सोचने की प्रक्रिया की। मनुष्य जब सोचता है तभी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। हंसता है, रोता है, गुस्सा करता है, विरोध करता है। अब हंसने के कारण बदल रहे हैं। हंसने की आवाज बदल रही है। क्योंकि इंसानी एक दवा की चीज बन गई है। विज्ञापन आते हैं—जीने के लिए हंसना जरूरी है। हंसने की कला में माहिर होने के लिए क्लब में नामांकन कराना होता है। रोने के पीछे असुरक्षा का बोझ सबसे बड़ा कारण होता जा रहा है। गुस्सा लिजलिजा होता जा रहा है। गुस्से का भूगोल अपनी चारदिवारी में सिमट गया है। कुल मिलाकर कहा जाए कि मनुष्य बदल रहा है। मनुष्य—एक नया मनुष्य—गढ़ा जा रहा है। एक नई व्यवस्था के लिए। पुराने छोटे से समूह के विस्तार को देखते हुए एक वर्ग तैयार किया जा रहा है।

बहरहाल ये सब बातें इधर-उधर की हो गई हैं। बीच में राजनीतिक व्यवस्था, छोटा-सा शासक वर्ग, और न जाने क्या-क्या बातें भी आ गई हैं। इससे वचना चाहिए था। क्योंकि बात साहित्य की थी। संस्कृति से जुड़ी थी। क्या किया जाए? इनसे वचना थोड़ा मुश्किल था। लेकिन अब आराम से हम साहित्य पर विचार-विमर्श कर सकते हैं। आज की डायरी ही आज का साहित्य क्यों नहीं हो सकती?

कहा जा सकता है, किसी भी समय का साहित्य उस समय की डायरी ही होता है। लेकिन जब समय की डायरी होता है तो फिर आज का साहित्य इतना दूर क्यों है? साहित्य को लेकर बेचैनी क्यों है? उसके तो दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि आज की डायरी आज की तारीख में नहीं लिखी जा रही है। आज की तारीख डालकर पुरानी डायरी लिखने की कोशिश हो रही है। इसीलिए न डायरी बन पा रही है और न ही साहित्य रच पाया जा रहा है। दूसरी बात यह हो सकती है कि आज का समय साहित्य का ही नहीं है क्योंकि बिल्कुल अस्थिर स्थिति है। सब कुछ उलट-पुलट रहा है। सब कुछ बेहद तेज गति में है। हर चीज अपनी जगह बनाने की जुगाड़ में है। जो चीज ढह सकती है वह किनारे लगने की कोशिश में है। फिर साहित्य इतना गतिवान कहां हो सकता है? उसके लिए थोड़ी-सी स्थिरता चाहिए। चीजों को समझने के लिए थोड़ा वक्त। यहां तो एक क्षण को पकड़ने की कोशिश करो तो तीसरे क्षण का बोध हाथ में आ जाता है। पात्र अपने को पढ़ाते-पढ़ाते न जाने कितने रूप बदल लेता है। चीजें दृश्यों और शब्दों के बीच में अटककर रह गई हैं। कौन शब्दों के हिस्से में जा सकता है और किसका दृश्यांकन हो सकता है? चीजें न कैमरे की पकड़ में हैं और न कलम की। यह स्थिति एक छटपटाहट पैदा करती है। इसलिए शब्दों का काम दृश्यांकन से और दृश्यों का काम शब्दों से चलाने का एक नया व्याकरण रचा जाने लगता है। शब्दों की अप्रासंगिकता पर इसी दौर में बहस भी उठ जाती है। हो सकता है कि लिपियों की अब जरूरत नहीं रह गई हो, शब्दों की भाषा का मतलब अब इस नए मनुष्य के लिए नहीं रह गया हो, संस्कृति सभ्यता आदि पुरातन चीजें हो गई हों। मृत्यु पर अब नए सिरे से विचार हो रहा है। नए मनुष्य के अंतःमन में इसके लिए सभा चल रही हो। इसने अपना पड़ाव घर के किसी कोने में बना लिया हो। उसकी रचना उसकी टेबुल पर, शून्य में लटकी कोई चीज हो। उसे वहन-भाई, दोस्त की जरूरत नहीं रह गई हो। क्योंकि उन्हें इन भावों का आदी ही न बनाया गया हो। पत्नी के किस्से-कहानी किसी आश्चर्य की दुनिया की सैर कराने लगे हों। यानी नया मनुष्य किसी भी तरह का हो सकता है। इसके बारे में ठीक-ठीक कुछ भी कहना मुश्किल है। यह भी हो सकता है कि यह जाति अपने लिए एक नए नाम की खोज कर ले। मनुष्य इतिहास का विषय बन जाए। जैसे आदिमानव हमारे पाठ्यक्रम का विषय है।

साहित्य जब समय की डायरी होता है तो समय की परख भी तो होनी चाहिए। अभी समय की पहचान ही नहीं हो पा रही है। हम या तो इतिहास में घूम रहे हैं या फिर इतिहास में लोगों को ले जाने की कोशिश कर रहे हैं। आज का मनुष्य आज का साहित्य पढ़ना चाहता है न कि इतिहास का एक बोझ। इतिहास को वह वर्तमान के आइने में देखना चाहता है। आज का साहित्य कल का इतिहास है। हम आज इतिहास को साहित्य बनाकर प्रस्तुत करने की कोशिश कर रहे हैं।

कहा जाता है कि यह संक्रमणकालीन दौर है। संक्रमणकालीन होता क्या है? मां के गर्भ में जब बच्चा पलता है तो क्या मां के लिए वह संक्रमणकालीन दौर होता है? मां की रचना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण काल होता है। वह रोती, मुसती, कराहती रचनाशील रहती है। समाज का संक्रमणकालीन दौर परिवर्तन का दूसरा नाम है न कि आज की डायरी न लिख पाने की अक्षमता का बहाना। संक्रमणकाल की पुरानी परिभाषा भी लागू की जाए तो रचना का यह महत्वपूर्ण काल होना चाहिए। दरअसल यह संक्रमणकालीन दौर नहीं है। यह दौर एक नई विधा का है। नए पात्र का है। नए रचनाकार का है। उसके साहित्य का है। वह आज की डायरी लिख रहा है।

सुरंग

अशोक गुप्ता



रेखांकन : शिरीष

शहर के इस महंगे नर्सिंग होम में, जो मरीज अपनी अंतिम सांसें गिन रहा है, वह मैं हूँ।

कोमा में आ गया हूँ मौत अब कितने पल दूर रही मुझसे! जो भी हो, मैं बहुत कुछ कह लेना चाहता हूँ इस बीच सब कुछ कह लेना चाहता हूँ।

उसी समय से शुरू करूँ स्कूल की पढ़ाई के आखिरी दिन थे और मैं खींचतान कर बस पास होता चल रहा था। चेहरे पर मूँछें अपनी दस्तक देने लगीं थीं। अपनी आवाज हर अगले दिन अपनी नहीं लगती थी और हवा निरंतर जैसे बहती सुनाई पड़ती थी मुझे पढ़ो, पढ़ो, मुझे पढ़ो

ऐसे में पता नहीं किस दंग से मैंने यह पढ़ लिया था कि अगर स्कूल-कालेज के जरिए भी, बस किसी न किसी तरह अपने पैरों खड़े होने की ताकत जुटानी है तो क्यों न सीधे ताकत ही जुटाने का रास्ता पकड़ा जाए? कैसी अजीब सनसनीदार इबादत थी यह, जो मेरी आंखों में आ बैठी और

मैंने घर-बाहर, इधर-उधर, सब जगह उसी इबादत को, उसकी सच्चाई को जांचना शुरू कर दिया, शायद यही वह निर्णायक घटना थी जिसने मुझे इस गति तक जा पहुंचाया।

न जाने कितने चेहरे मैंने पढ़े—स्कूल में मास्टर जी, घर में पिता या दादी, पड़ोस में रहने वाले बड़े अफसर, व्यापारी और बड़े मंदिर के पुजारी जी ... पढ़े-लिखे, अनपढ़, लेकिन सबके हाव-भाव में बस ताकत जुटाने का जतन

किताब मेरी उंगलियों से फिसलने लगी ... नजर खोजने लगी ताकत का झरना, जो मुझे कलम-कागज से बहता कभी नहीं दिखा। इस खोज में मुझे इसी नजर के दोस्त मिले। ताकत की प्यास में सूखे होठ लिए भटकाव में जीते और मैं ताकत की खोज करता हुआ एक सुरंग में आ गया

एक लंबी अंधेरी सुरंग थी वह। कुछ सूझता नहीं था उसके भीतर। ताकत के प्रसंग में सूझना जरूरी

भी नहीं था शायद एक अजीब-सी नमी थी वहां, ठहरी हुई हवा का भीगा-सा स्पर्श, जिसके होते उंगलियों तक किसी और छुअन का एहसास पहुंचना बंद हो जाता एक निःशब्द सन्नाटा गूंजता था कान में जो उन्मादित करता था ... कुछ भयभीत और संज्ञा-शून्यता तो बहरहाल भरता ही था भीतर

दरअसल वह अंधेरी नम सुरंग खुद एक ऐसा पाठ थी जो ताकत का मंत्र धारण करने की दीक्षा देती थी। मैं जब सुरंग में होता तो वहां की गूंज एक बेचैन कर देने वाली हलचल भर देती मेरे भीतर, और मैं बाहर आ जाता। और बाहर जब तक उस लिजलिजे अंधेरे की किक रहती मेरे ऊपर, मुझे सब अपरिचित-से दिखते, किसी और दुनिया के लोग जैसे, और मैं खुद को उनके बीच बिल्कुल अलग-थलग पाता।

एक नशा-सा चढ़ा रहता मुझ पर सुरंग से बाहर निकलते समय, और बाहर की ताजा हवा में जब वह नशा टूटने लगता तो वह सुरंग फिर

हांक देकर बुला लेती मुझको।

इस तरह सुरंग और उसके बाहर की दुनिया के बीच मेरा बेमतलब-सा युद्ध शुरू हुआ और लंबे समय तक जारी रहा। इस दौरान मैं घर, पड़ोस, संगी-साथी सबसे मोमजामा होता गया। अब पिता, दादी, मास्टर, पुजारी सबके चेहरे पर ताकत की जद्दोजहद साफ पढ़ सकने लगा मैं, हालांकि वह सब सुरंग के जीव नहीं थे, घर के प्राणी थे। सुरंग का होने के लिए घर का प्राणी न होना चुन लिया था मैंने। यह मेरे लिए एक मंथन का दौर था, और मुझे खुद पता नहीं था कि इससे कुछ निकलेगा भी या नहीं। पर जो भी था यह एक गहरे सम्मोहन से भरा दौर था।

फिर एक दिन एक चमत्कार-सा हुआ। सुरंग ने मुझे एक मुखौटा दिया। दिया क्या, अपने हाथ से खुद पहना दिया मुझे। वह जैसे मेरा दीक्षांत समारोह था। सुरंग के अंधेरे में उस मुखौटे को देख पाना संभव नहीं था, सो मैंने स्वीकार किया और उत्तेजित-उत्साहित-सा सुरंग के बाहर आ गया। उत्तेजना की तो बात थी ही क्योंकि वह मुखौटा मिलना, सुरंग के भीतर मेरे लिए गति की पहली घटना थी।

मुखौटा चढ़ाए मैं सुरंग के बाहर आया तो था लेकिन सुरंग जैसे साथ आ गई थी मेरे। वैसा ही अंधेरा, नमी और ठहरी हुई हवा का लिजलिजापन। कान में वैसी ही गूंज और उन्माद भरा नाद।

मैं सड़क पर आया ही था कि लोगों में जिसकी नजर मुझ पर पड़ी, उसने यकायक भागना शुरू कर दिया। बदहवास भागमभाग! हाथ का सौदा-सुलफ छोड़कर लोग गलियों में जा छुपे। औरतों, बच्चों ने चीख मारी और माएं दुधमुंहों को सीने से चिपकाकर चुनरी-चप्पल छोड़, जहां जगह मिली, दौड़ गईं।

अजब रोमांच था उस दृश्य में। मैं देर तक मुखौटा चढ़ाए शहर में घूमता रहा। लोगों का सामान-दुकान छोड़कर भागना देखता रहा। दुकान से मनपसंद चीजें उठाकर जेब के हवाले करता रहा और देखता रहा पुलिस तक का डंडा-टोपी छोड़कर भागना। लंबे समय तक यह सिलसिला चलता रहा। मैं जहां चाहता मुखौटा लगाकर दहशत के बल पर लोगों की विभीषी बंधी विनम्रता-उदारता का हकदार बनता और घर जाते समय मुखौटा उतारकर जेब में रख लेता। मुखौटा उतारकर भी खुद से बेगाना नहीं होता मैं, क्योंकि मेरे लिए मेरा घर भी सुरंग में बदलने लगा था।

इस तरह ताकत, पैसा और समर्थन जुटाने

का लंबा अभ्यास मैंने इस दौर में किया, और मुझे महसूस हुआ कि मैं उठने लगा हूं। ताकत ने अपने हाथों जमीन से उठा दिया मुझे ऊपर जहां से एक बदतमीज नजर भी मेरी आदत में आ जुड़ी। मैं स्कूल की पढ़ाई और मां की सीख तक से लैस आदमी को वौना और बेइज्जत मानने लगा। फिर धीरे-धीरे मेरा मुखौटा लगाकर ताकत बटोरना बंद-सा हो गया। मैं सुरंग में ही रहने लगा और ताकत खुद-व-खुद मेरे पास आने लगी। पैसा मान औरत सब कुछ। 'फील्ड' से उठकर 'फ्लोर' तक आ जाने के बाद मेरे रंग-रंग में थोड़ा बदलाव आ गया। मेरा डर सतत हो गया लोगों के बीच और मैं मुखौटा उतारकर भी आने-जाने लगा यदा-कदा।

और इसी दौर में उस दिन की वह घटना।

.....

मैं अब भी उस घटना को याद करता हूं, तो कोमा के बावजूद सिहर जाता हूं।

यूं ही घूमते-फिरते उस दिन मैंने एक आदमी को देखा था। मुखौटा चढ़ाए वह आदमी उससे डरकर भागते बदहवास लोग और उसकी बांहों में दबोची हुई एक औरत एकदम मेरे जैसा आदमी था वह। ऐसी चाल में चलता हुआ, मानो सुरंग उसके साथ चल रही हो। उस समय मेरे चेहरे पर मुखौटा नहीं था।

उस आदमी को देखकर मैं जरा हैरत में आया। मैंने उसे इशारे से रोका, वह रुक गया। उसने जैसे मुझे पहचान लिया था। कुछ पल हम दोनों आमने-सामने खड़े रहे। एक आतंक उसके चेहरे से चारों ओर फैल रहा था, जब कि सन्नाटा ही था हमारे आसपास। पता नहीं क्या हुआ कि मैं उसका मुखौटे के पीछे का चेहरा देखने को बेचैन हो उठा। मैंने उसे आदेश दिया और एक झटके से उसने अपना मुखौटा उतारकर हाथ में ले लिया।

ताकत रहा गया मैं उसका बेमुखौटा चेहरा। जरा भी फर्क नहीं आया था उस चेहरे में जैसा, मुखौटे के साथ, हू-ब-हू वही बिना मुखौटे के। मेरी उंगलियां थरथराई कि मैं उसका चेहरा छूकर देखूं कि कहीं उस पर एक और मुखौटा तो नहीं लेकिन मैंने खुद को किसी तरह रोक लिया।

मेरे आदेश का इंतजार किए बगैर उसने फिर अपना मुखौटा चढ़ा लिया और बिना कुछ कहे तेज कदमों से आगे बढ़ गया। मेरी उंगलियां थरथराहट से दुखने लगी थीं। पल भर ठहरकर पता नहीं कैसे मेरे हाथ उठे और मेरी उंगलियां मेरे बेमुखौटा चेहरे पर रंगने लगीं।

यकायक चौंक —
स्पर्श वैसा ही था, र
और निस्पंद, जैसे १

बेहद कसमसा
यकायक अपने निष्प्र
भर गई। मैंने अपनी
कोई दर्द नहीं हुआ
सिगरेट अपनी जवान
तपिश नहीं लगी मुझे
उठा

तो क्या ताकत
दहशत फैलाते-फैलाते
रह गया हूं। एक रबर
हुई चीज यकायक
सामने जिंदा हो आए। त
नहीं भोगा मैंने? क्या व्य
था और क्या खूबसूरती।
लेकिन उसी पल यह एह
..... न व्यंजन में, न स

तो क्या एक निर्जी
तभी शुरू कर दिया था
था?

यह बात किसी बेहद
की तरह हिला गई मुझे ...
थी मेरे भीतर से और शायद
हो गया था। फिर नर्सिंग होम ... कोमा ... और
अब

अब और कुछ नहीं। मेरे सामने शीशे की दीवार के उस पार आतंकित लोगों की भीड़ है जो मेरे मरने की इंतजार कर रही है। और शीशे की दीवार के इस पार मेरे कमरे में एक शांत प्रसन्नचित्त चेहरे वाली नर्स है—एली। मुझे मरते-मरते इस एली से जबर्दस्त ईर्ष्या हो रही है। इन चार दिनों से मैं लगातार देख रहा हूं इसे। इसने न जाने कितनी बार निडर होकर मेरी बांहें छुई हैं और अपनी स्थिर गुनगुनी उंगलियों से मेरी पलकें उठाकर मेरी पुतलियां देखी हैं। तन्मय होकर अपना काम करती है। अक्सर साथ की नर्सों के साथ बातें करते समय खिलाखिलाकर हंसती है और अचानक घड़ी देखकर चौंकती है कभी-कभी और भागकर किसी मरीज के पास पहुंच जाती है।

कितनी भरपूर जिंदगी है उसके पास
और कितना निडर मन

अब वह आएगी मेरे पास, तो मैं उसका हाथ
छूकर पूछूंगा उससे मैं कब मरूंगा एली! ...
मैं मरना चाहता हूं। □

जैन संस्कृति का मर्म

जाने-माने विद्वान और चिंतक बिशंभरनाथ पांडे का मानना है कि निवर्तक धर्म ही जैन संस्कृति की आत्मा है। प्रस्तुत है प्रकाशन विभाग द्वारा शीघ्र प्रकाश्य पुस्तक 'भारत और मानव संस्कृति' से एक अंश।

जैन संस्कृति के बाहरी स्वरूप में अनेक बाहरी वस्तुओं का समावेश हुआ है। शास्त्र, भाषा, मंदिर, स्थापत्य, मूर्ति-विधान, उपासना के प्रकार, उसमें काम आने वाले उपकरण तथा द्रव्य, समाज के खान-पान के नियम, उत्सव, त्यौहार आदि अनेक विषयों का जैन समाज के साथ एक निराला संबंध है।

प्रश्न यह है कि जैन संस्कृति का मर्म क्या है? इसका संक्षिप्त जवाब तो यही है कि निवर्तक धर्म जैन संस्कृति की आत्मा है। जो धर्म निवृत्ति कराने वाला अर्थात् पुनर्जन्म के चक्र का नाश कराने वाला हो या उस निवृत्ति के साधन रूप से जिस धर्म का आविर्भाव, विकास और प्रचार हुआ हो वह निवर्तक धर्म कहलाता है। इसका असली अर्थ समझने के लिए हमें प्राचीन किंतु समकालीन इतर धर्म स्वरूपों के बारे में थोड़ा-सा विचार करना होगा।

इस समय जितने भी धर्म दुनिया में जीवित और प्रचलित हैं या जिनका थोड़ा-बहुत इतिहास मिलता है, उन सबके आंतरिक स्वरूप का अगर वर्गीकरण किया जाए तो वह मुख्यतया तीन भागों में विभाजित होते हैं। पहला वह जिसमें मौजूदा जन्म का ही विधान है। दूसरा वह है जो मौजूदा जन्म के अलावा जन्मांतर का भी विधान करता है। तीसरा वह है जो जन्म-जन्मांतर के उपरांत उसके विनाश का या उच्छेद का भी विचार करता है।

आज की तरह बहुत पुराने समय में भी ऐसे विचारक लोग थे जो वर्तमान जीवन में प्राप्त होने वाले सुख के उस पार किसी अन्य सुख की कल्पना से न तो प्रेरित होते थे और न उसके साधनों की खोज में समय विताना ठीक समझते थे। उनका ध्येय वर्तमान जीवन का सुख भोग ही था और वे इसी ध्येय की पूर्ति के लिए सब साधन जुटाते थे। वे समझते थे कि हम जो कुछ हैं वह इसी जन्म तक हैं और मृत्यु के बाद पुनर्जन्म नहीं होता। बहुत हुआ तो हमारे पुनर्जन्म का अर्थ हमारी संतति का चालू रहना है। अतएव हम जो अच्छा-बुरा करेंगे उसका फल इस जन्म के बाद भोगने के वास्ते हमें उत्पन्न होना नहीं है। हमारे किए का फल हमारी संतान या हमारा समाज भोग सकता है। इसे पुनर्जन्म कहना हो तो हमें कोई आपत्ति नहीं। ऐसा विचार करने वाले वर्ग को हमारे प्राचीनतम शास्त्रों में अनात्मवादी या नास्तिक कहा गया है। यही वर्ग कभी आगे जाकर 'चार्वाक' कहलाने लगा। इस वर्ग की दृष्टि में साध्य-पुरुषार्थ काम अर्थात् सुख भोग ही है। उसके साधन रूप से वह वर्ग धर्म की कल्पना नहीं करता या धर्म नाम से तरह-तरह के

विधि-विधानों पर विचार नहीं करता। अतएव इस वर्ग को एकमात्र काम-पुरुषार्थी या बहुत हुआ तो काम और अर्थ उभय पुरुषार्थी कह सकते हैं। इसका सिद्धांत है : 'ईंट, ड्रिंक एंड बी मैरी!'

दूसरा विचारक वर्ग शारीरिक जीवनगत सुख को साध्य तो मानता है पर वह मानता है कि जैसे मौजूदा जन्म में सुख संभव है वैसे ही प्राणी मर कर फिर पुनर्जन्म ग्रहण करता है और इस तरह जन्म-जन्मांतर में शारीरिक-मानसिक सुखों के प्रकर्ष-अपकर्ष की शृंखला चालू रहती है। जैसे इस जन्म में वैसे ही जन्मांतर में भी हमें सुखी होना हो, या अधिक सुख पाना हो, तो इसके वास्ते हमें धर्मानुष्ठान भी करना होगा। अर्थोपार्जन आदि साधन वर्तमान जन्म में उपकारक भले ही हों पर जन्मांतर के उच्च और उच्चतर सुख के लिए हमें धर्मानुष्ठान अवश्य करना होगा। ऐसी विचार-सरणि वाले लोग तरह-तरह के धर्मानुष्ठान करते थे और उसके द्वारा परलोक तथा लोकांतर के उच्च सुख पाने की श्रद्धा भी रखते थे। यह वर्ग आत्मवादी और पुनर्जन्मवादी तो है ही पर उसकी कल्पना जन्म-जन्मांतर में अधिकाधिक सुख पाने की तथा प्राप्त सुख को अधिक से अधिक समय तक स्थिर रखने की होने से उसके धर्मानुष्ठानों को प्रवर्तक धर्म कहा गया है। प्रवर्तक धर्म का संक्षेप में सार यह है कि जो और जैसी समाज व्यवस्था हो उसे इस तरह नियम और कर्तव्य बद्ध बनाना कि जिससे समाज का प्रत्येक सभ्य अपनी-अपनी स्थिति और कक्षा में सुख-लाभ करे और साथ ही ऐसे जन्मांतर की तैयारी करे कि जिससे दूसरे जन्म में भी वह वर्तमान जन्म की अपेक्षा अधिक और स्थायी सुख पा सके। प्रवर्तक धर्म का उद्देश्य समाज व्यवस्था के साथ-साथ जन्मांतर का सुधार करना है, न कि जन्मांतर का उच्छेद। प्रवर्तक धर्म के अनुसार काम, अर्थ और धर्म—तीन पुरुषार्थ हैं। उनमें मोक्ष नामक चौथे पुरुषार्थ की कोई कल्पना नहीं है। प्राचीन ईरानी आर्य जो *अवस्ता* को धर्म-ग्रंथ मानते थे और प्राचीन वैदिक आर्य जो मंत्र और ब्राह्मण रूप वेद भाग को ही मानते थे, वे सब उक्त प्रवर्तक धर्म के अनुयायी हैं। आगे जाकर वैदिक दर्शनों में जो मीमांसा दर्शन नाम से कर्मकांडी दर्शन प्रसिद्ध हुआ वह प्रवर्तक धर्म का जीवित रूप है।

निवर्तक धर्म प्रवर्तक धर्म का विरोधी है। जो विचारक इस लोक के उपरांत लोकांतर और जन्मांतर मानने के साथ-साथ उस जन्म-चक्र को धारण करने वाली आत्मा को प्रवर्तक धर्मवादियों की तरह तो मानते ही थे, पर साथ

ही वे जन्मान्तर में प्राप्य उच्च, उच्चतर और चिरस्थायी सुख से संतुष्ट न थे, उनकी दृष्टि यह थी कि इस जन्म या जन्मान्तर में कितना ही ऊंचा सुख क्यों न मिले, यह कितने ही दीर्घकाल तक क्यों न स्थिर रहे पर अगर वह सुख कभी न कभी नाश होने वाला है तो फिर वह उच्च और चिरस्थायी सुख भी अंत में निकृष्ट सुख की कोटि का होने से उपादेय हो नहीं सकता। वे लोग ऐसे किसी सुख की खोज में थे जो एक बार प्राप्त होने के बाद कभी नष्ट न हो। इस सुख की खोज ने उन्हें मोक्ष पुरुषार्थ मानने के लिए बाधित किया। वे मानने लगे कि एक ऐसी भी आत्मा की स्थिति संभव है जिसे पाने के बाद फिर कभी जन्म-जन्मान्तर या देह धारण करना नहीं पड़ता। वे आत्मा की उस स्थिति को मोक्ष या जन्म निवृत्ति कहते थे। प्रवर्तक धर्मानुयायी जिन उच्च और उच्चतर धार्मिक अनुष्ठानों से इस लोक तथा परलोक के उत्कृष्ट सुखों के लिए प्रयत्न करते थे उन धार्मिक अनुष्ठानों को निवर्तक धर्मानुयायी अपने साध्य-भोक्ष या निवृत्ति के लिए न केवल अपर्याप्त ही समझते बल्कि वे उन्हें मोक्ष पाने में बाधक समझकर उन सब धार्मिक अनुष्ठानों को आत्यंतिक हेय बतलाते थे। उद्देश्य और दृष्टि में पूर्व पश्चिम जितना अंतर होने से प्रवर्तक धर्मानुयायियों के लिए जो उपादेय है वही निवर्तक धर्मानुयायियों के लिए हेय बन गया। यद्यपि मोक्ष के लिए प्रवर्तक धर्म बाधक माना गया पर साथ ही मोक्षवादियों को अपने साध्य मोक्ष पुरुषार्थ के उपाय रूप से किसी सुनिश्चित मार्ग की खोज करना भी अनिवार्य रूप से प्राप्त था। इस खोज की सूझ ने उन्हें एक ऐसा मार्ग, एक ऐसा उपाय सुझाया जो किसी बाहरी साधन पर निर्भर न था। वह एकमात्र साधक की अपनी विचार शुद्धि और व्यवहार शुद्धि पर अवलंबित था। यही विचार और व्यवहार की आत्यंतिक शुद्धि का मार्ग निवर्तक धर्म के नाम से अथवा निर्वाण या मोक्ष मार्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हम जब भारतीय संस्कृति के विचित्र और विविध ताने-बाने की जांच करते हैं तब हमें स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि भारतीय आत्मवादी दर्शनों में कर्मकांडी मीमांसक के अलावा सभी निवर्तक धर्मवादी हैं। अवैदिक माने जाने वाले बौद्ध और जैन दर्शन की संस्कृति तो मूल में निवर्तक धर्म का स्वरूप है ही पर वैदिक समझे जाने वाले न्याय वैशेषिक सांख्य-योग तथा औपनिषद दर्शन की आत्मा भी निवर्तक धर्म पर ही प्रतिष्ठित है। वैदिक हो या अवैदिक, सभी निवर्तक धर्म प्रवर्तक धर्म को या यज्ञयागादि अनुष्ठानों को अंत में हेय ही बतलाते हैं। और वे सभी सम्यक ज्ञान या आत्म ज्ञान को तथा आत्म ज्ञान मूलक अनासक्त जीवन व्यवहार को उपादेय मानते हैं एवं उसी के द्वारा पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति पाना संभव बतलाते हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रवर्तक धर्म समाजगामी था। इसका मतलब यह था कि प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहकर ऐसे सामाजिक कर्तव्य, जो ऐहिक जीवन से संबंध रखते हैं और ऐसे धार्मिक कर्तव्य जो पारलौकिक जीवन से संबंध रखते हैं, उनका पालन करे। प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही ऋषि ऋण अर्थात् विद्याध्ययन आदि, पितृ-ऋण अर्थात् संतति जननादि और देव ऋण अर्थात् यज्ञयागादि बंधनों से आवद्ध है। व्यक्ति को सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों का पालन करके अपनी कृपण इच्छा का संशोधन करना इष्ट है। पर उसका निर्मूल नाश करना न शक्य है और न इष्ट। प्रवर्तक धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम जरूरी है। उसे लांघकर कोई विकास कर नहीं सकता। जबकि निवर्तक धर्म व्यक्तिगामी है। वह आत्मसाक्षात्कार की उत्कट वृत्ति में से उत्पन्न होने के कारण जिज्ञासु में आत्म तत्व है या नहीं, है तो वह कैसा है, उसका अन्य के साथ कैसा संबंध है, उसका साक्षात्कार संभव है तो किन-किन उपायों से संभव है, इत्यादि प्रश्नों की ओर प्रेरित करता है। ये प्रश्न ऐसे नहीं हैं कि जो एकांत चिंतन, तप और असंगतापूर्ण जीवन के सिवाय सुलझ सकें। ऐसा सच्चा जीवन खास व्यक्तियों के लिए

ही संभव हो सकता है। उसका समाजवादी होना संभव नहीं। इस कारण प्रवर्तक धर्म की अपेक्षा निवर्तक धर्म का क्षेत्र शुरू में बहुत परिमित रहा। निवर्तक धर्म के लिए गृहस्थाश्रम का बंधन था ही नहीं। वह गृहस्थाश्रम के बिना भी व्यक्ति को सर्वत्याग की अनुमति देता है। क्योंकि उसका आधार इच्छा का संशोधन नहीं, उसका निरोध है। अतएव वह प्रवर्तक धर्म संभव सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों से बद्ध होने की बात नहीं मानता। उसके अनुसार व्यक्ति के लिए कर्तव्य एक ही है और वह यह कि जिस तरह हो, आत्म साक्षात्कार करे और उसमें रुकावट डालने वाली इच्छा के नाश का प्रयत्न करे।

जान पड़ता है कि इस देश में जब प्रवर्तक धर्मानुयायी वैदिक आर्य पहले-पहल प्रभावशाली हुए, तब भी कहीं न कहीं इस देश में निवर्तक धर्म एक या दूसरे रूप में प्रचलित था। शुरू में इन दो धर्म संस्थाओं के विचारों में पर्याप्त संघर्ष रहा। पर निवर्तक धर्म के इने-गिने सच्चे अनुगामियों की तपस्या, ध्यान-प्रणाली और असंगर्भ का साधारण जनता पर जो प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ रहा था उसने प्रवर्तक धर्म के कुछ अनुगामियों को भी अपनी ओर खींचा और निवर्तक धर्म की संस्थाओं का अनेक रूप में विकास होना शुरू हुआ। इसका प्रभावकारी फल अंत में यह हुआ कि प्रवर्तक धर्म के आधार रूप जो ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो आश्रम माने जाते थे उनके स्थान पर प्रवर्तक धर्म के पुरस्कर्ताओं ने पहले तो वानप्रस्थ सहित तीन और पीछे संन्यास सहित चार आश्रमों को जीवन में स्थान दिया। निवर्तक धर्म की अनेक संस्थाओं के बढ़ते हुए जनव्यापी प्रभाव के कारण अंत में तो यहां तक प्रवर्तक धर्मानुयायी ब्राह्मणों ने विधान मान लिया कि गृहस्थाश्रम के बाद जैसे संन्यास न्यायप्राप्त है वैसे ही अगर तीव्र वैराग्य हो तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश किए बिना सीधे ब्रह्मचर्याश्रम से प्रवृत्त्यमार्ग न्यायप्राप्त है। इस तरह जो प्रवर्तक धर्म का जीवन में समन्वय स्थिर हुआ उसका फल हम दार्शनिक साहित्य और जनजीवन में आज भी देखते हैं।

जो तत्वज्ञ ऋषि प्रवर्तक धर्म के अनुयायी ब्राह्मणों के वंशज होकर भी निवर्तक धर्म को पूरे तौर से अपना चुके थे उन्होंने चिंतन और जीवन में निवर्तक धर्म का महत्व व्यक्त किया। फिर भी उन्होंने अपनी पैतृक संपत्ति रूप प्रवर्तक धर्म और उसके आधारभूत वेदों का प्रामाण्य मान्य रखा। न्याय-वैशेषिक दर्शन के और औपनिषद दर्शन के आद्य द्रष्टा ऐसे ही तत्वज्ञ ऋषि थे। निवर्तक धर्म के कोई-कोई पुरस्कर्ता ऐसे भी हुए कि जिन्होंने तप, ध्यान और आत्म साक्षात्कार के बाधक क्रियाकांड का तो आत्यंतिक विरोध किया पर उस क्रियाकांड की आधारभूत श्रुति का सर्वथा विरोध नहीं किया। ऐसे व्यक्तियों में सांख्य दर्शन के आदि पुरुष कपिल आदि ऋषि थे। यही कारण है कि मूल में सांख्य-योगदर्शन प्रवर्तक धर्म का विरोधी होने पर भी अंत में वैदिक दर्शनों में समा गया।

समन्वय की ऐसी प्रक्रिया इस देश में शताब्दियों तक चली। फिर कुछ ऐसे आत्यंतिकवादी दोनों धर्मों में होते रहे कि वे अपने-अपने प्रवर्तक या निवर्तक धर्म के अलावा दूसरे पक्ष को न मानते थे और न युक्त बतलाते थे। महावीर और बुद्ध के पहले भी ऐसे अनेक निवर्तक धर्म के पुरस्कर्ता हुए हैं। फिर भी महावीर और बुद्ध के समय में तो इस देश में निवर्तक धर्म की पोषक ऐसी अनेक संस्थाएं थीं और दूसरी अनेक ऐसी नई पैदा हो रही थीं कि जो प्रवर्तक धर्म का उग्रता से विरोध करती थीं। अब तक नीचे से ऊंचे तक के वर्गों में निवर्तक धर्म की छाया में विकास पाने वाले विविध तपोनुष्ठान, विविध ध्यान-मार्ग और नानाविध त्यागमय आचारों का इतना अधिक प्रभाव फैलने लगा था कि फिर एक बार महावीर और बुद्ध के समय में प्रवर्तक और निवर्तक धर्म के बीच प्रबल विरोध की लहर उठी जिसका

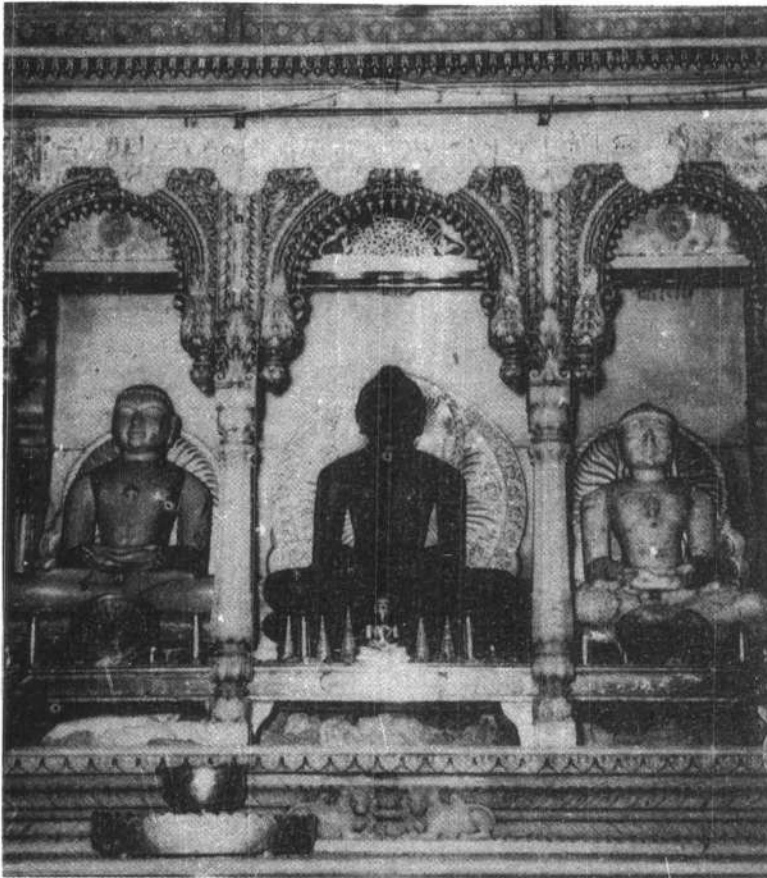
सबूत हम जैन-बौद्ध वाङ्मय तथा समकालीन ब्राह्मण वाङ्मय में पाते हैं। तथागत बुद्ध ऐसे परिपक्व विचारक और दृढ़ थे कि जिन्होंने किसी भी तरह से अपने निवर्तक धर्म में प्रवर्तक धर्म के आधारभूत मंतव्यों और शास्त्रों को आश्रय नहीं दिया। दीर्घ तपस्वी महावीर भी ऐसे ही कड़र निवर्तक धर्मी थे। अतएव हम देखते हैं कि पहले से आज तक जैन और बौद्ध संप्रदाय में अनेक वेदानुयायी विद्वान् ब्राह्मण दीक्षित हुए फिर भी उन्होंने जैन और बौद्ध वाङ्मय में वेद के प्रामाण्य स्थापन का न कोई प्रयत्न किया और न किसी ब्राह्मण ग्रंथविहित यज्ञयागादि कर्मकांड को मान्यता दी।

शताब्दियां ही नहीं, बल्कि सहस्राब्दी पहले से लेकर जो धीरे-धीरे निवर्तक धर्म के अंग-प्रत्यंग रूप से अनेक मंतव्यों और आचारों का महावीर, बुद्ध तक के समय में विकास हो चुका था वे संक्षेप में ये हैं : 1. आत्म शुद्धि ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है, न कि ऐहिक या पारलौकिक किसी भी पद का महत्व; 2. इस उद्देश्य की पूर्ति में बाधक आध्यात्मिक मोह-अविद्या और तज्जन्य तृष्णा का मूलोच्छेद; 3. इसके लिए आध्यात्मिक ज्ञान और उसके द्वारा सारे जीवन व्यवहार को पूर्ण निस्तृष्ण बनाना। इसके लिए शारीरिक, मानसिक, वाचिक, विविध तपस्याओं का तथा नाना प्रकार के ध्यान योग मार्ग का अनुसरण और तीन, चार या पांच महाव्रतों का यावज्जीवन अनुष्ठान; 4. किसी भी आध्यात्मिक अनुभव वाले मनुष्य के द्वारा किसी भी भाषा में कहे गए आध्यात्मिक वर्णन वाले वचनों को ही प्रमाण रूप से मानना, न कि ईश्वरीय या अपौरुषेय रूप से स्वीकृत किसी खास भाषा में रचित ग्रंथों को; 5. योग्यता और गुरुपद की कसौटी एक मात्र जीवन की आध्यात्मिक शुद्धि, न कि जन्म सिद्ध वर्ण विशेष। इस दृष्टि से स्त्री और शूद्र तक का धर्माधिकार उतना ही है, जितना एक ब्राह्मण और क्षत्रिय का; 6. मद्य-मांस आदि का धार्मिक और सामाजिक जीवन में निषेध। ये तथा इनके जैसे लक्षण जो प्रवर्तक धर्म के आचारों और विचारों से पृथक् पड़ते थे वे देश में जड़ जमा चुके थे और दिन-ब-दिन विशेष बल पकड़ते जाते थे।

कमोबेश उक्त लक्षणों को धारण करने वाली अनेक संस्थाओं और संप्रदायों में एक ऐसा पुराना निवर्तक धर्मी संप्रदाय था जो महावीर के पहले बहुत शताब्दियों से अपने खास ढंग से विकास करता जा रहा था। उसी संप्रदाय में पहले नाभिनंदन ऋषभदेव, यदुनंदन नेमिनाथ और काशीराजपुत्र पार्श्वनाथ हो चुके थे, या वे उस संप्रदाय में मान्य पुरुष बन चुके थे। उस संप्रदाय के समय-समय पर अनेक नाम प्रसिद्ध रहे। यति, भिक्षु, मुनि, अनगार, श्रमण आदि जैसे नाम तो उस संप्रदाय के लिए व्यवहृत होते

थे, पर जब दीर्घ तपस्वी महावीर उस संप्रदाय के मुखिया बने तब संभवतः वह संप्रदाय निर्ग्रंथ नाम से विशेष प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि निवर्तक धर्मानुयायी पंथों में ऊंची आध्यात्मिक भूमिका पर पहुंचे हुए व्यक्ति के वास्ते 'जिन' शब्द साधारण रूप से प्रयुक्त होता था। फिर भी महावीर के समय में और उनके कुछ समय बाद तक भी महावीर का अनुयायी साधु या गृहस्थ वर्ग 'जैन' (जिनानुयायी) नाम से व्यवहृत नहीं होता था। आज 'जैन' शब्द से महावीरपोषित संप्रदाय के त्यागी, गृहस्थ सभी अनुयायियों का जो बोध होता है इसके लिए पहले 'निर्ग्रंथी' और 'समणोवासग' जैसे शब्द व्यवहृत होते थे।

इस निर्ग्रंथ या जैन संप्रदाय में ऊपर सूचित निवृत्ति धर्म के सब लक्षण बहुधा थे ही पर इसमें ऋषभ आदि पूर्व कालीन त्यागी महापुरुषों के द्वारा तथा अंत में ज्ञातपुत्र महावीर के द्वारा विचार और आचारगत ऐसी छोटी-बड़ी अनेक विशेषताएं आई थीं व स्थिर हो गई थीं कि जिनसे ज्ञातपुत्र महावीरपोषित यह संप्रदाय दूसरे निवृत्तिगामी संप्रदायों से स्पष्टतः जुदा रूप धारण किए हुए था। यहां तक कि यह जैन संप्रदाय बौद्ध संप्रदाय से भी खास फर्क रखता था। महावीर और बुद्ध न केवल समकालीन थे बल्कि वे बहुधा एक ही प्रदेश में विचरने वाले तथा समान और समकक्ष अनुयाइयों को एक ही भाषा में उपदेश देते थे। दोनों के मुख्य उद्देश्य में कोई अंतर नहीं था। फिर भी महावीरपोषित और बुद्धसंचालित संप्रदायों में शुरू से ही विशेष अंतर रहा जो उजागर है। बौद्ध संप्रदाय बुद्ध को ही आदर्श रूप से पूजता है तथा बुद्ध के ही उपदेशों का आदर करता है जबकि जैन संप्रदाय महावीर आदि को इष्ट देव मानकर उन्हीं के वचनों को मान्य रखता है।



राजस्थान के महावीर मंदिर का एक दृश्य

बौद्ध चित्तशुद्धि के लिए ध्यान और मानसिक संयम पर जितना जोर देते हैं उतना जोर बाह्य तप और देहदमन पर नहीं। जैन ध्यान और मानसिक संयम के अलावा देहदमन पर अधिक जोर देते रहे हैं। बुद्ध का जीवन जितना लोकों में हिलने-मिलने वाला तथा उनके उपदेश जितने अधिक सीधे-सादे लोक सेवागामी हैं वैसा महावीर का जीवन तथा उपदेश नहीं है। बौद्ध अनगार की बाह्यचर्या उतनी नियंत्रित नहीं रही जितनी जैन अनगारों की। इसके सिवाय और भी अनेक विशेषताएं हैं जिनके कारण बौद्ध संप्रदाय भारत के समुद्र और पर्वतों की सीमा लांघकर उस पुराने समय में भी अनेक भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी, सभ्य-असभ्य जातियों में दूर-दूर तक फैला और करोड़ों अभारतीयों ने भी बौद्ध आचार-विचार को अपने-अपने ढंग से अपनी-अपनी भाषा में उतारा व अपनाया जबकि जैन

संप्रदाय के विषय में ऐसा नहीं हुआ।

यद्यपि जैन संप्रदाय ने भारत के बाहर उस अनुपात में प्रभाव नहीं जमाया फिर भी वह भारत के दूरवर्ती सब भागों में धीरे-धीरे न केवल फैल ही गया बल्कि उसने अपनी कुछ खास विशेषताओं की छाप प्रायः भारत के सभी भागों पर थोड़ी-बहुत अवश्य डाली। जैसे-जैसे जैन संप्रदाय पूर्व से उत्तर और पश्चिम तथा दक्षिण की ओर फैलता गया वैसे-वैसे उसे प्रवर्तक धर्मी तथा निवृत्ति पंथी संप्रदायों के साथ थोड़े बहुत संघर्ष में भी आना पड़ा। इस संघर्ष में कभी तो जैन आचार-विचारों का असर दूसरे संप्रदायों पर पड़ा और कभी दूसरे संप्रदायों के आचार-विचारों का असर जैन संप्रदाय पर भी पड़ा। यह क्रिया किसी एक ही समय में या एक ही प्रदेश में किसी एक ही व्यक्ति के द्वारा संपन्न नहीं हुई। बल्कि दृश्य-अदृश्य रूप में हजारों वर्ष तक चलती रही और आज भी चालू है। पर अंत में जैन संप्रदाय और दूसरे भारतीय-अभारतीय सभी धर्म संप्रदायों का एक स्थायी सहिष्णुतापूर्ण समन्वय हो गया जैसा कि एक कुटुंब के भाइयों में होता रहता है। इस पीढ़ियों के समन्वय के कारण साधारण लोग यह जान ही नहीं सकते कि उसके धार्मिक आचार-विचार की कौन सी बात मौलिक है और कौन सी दूसरों के संसर्ग का परिणाम है। जैन आचार-विचार का जो असर दूसरों पर पड़ा है उसका दिग्दर्शन कराने के पहले दूसरे संप्रदायों के आचार-विचारों का जैनों पर जो असर पड़ा है उसे संक्षेप में बतलाना ठीक होगा जिससे कि जैन संस्कृति का हार्द सरलता से समझा जा सके।

आचार्य सुखलाल के अनुसार : 'इंद्र, वरुण आदि देव-देवियों की स्तुति-उपासना के स्थान में जैनों का आदर्श है निष्कलंक मनुष्य की उपासना। पर जैन आचार-विचार में बहिष्कृत देव-देवियों का पुनः गौण रूप से ही सही, स्तुति-प्रार्थना द्वारा प्रवेश हो गया, जिसका कि जैन संस्कृति के उद्देश्य के साथ कोई भी मेल नहीं है। जैन परंपरा ने उपासना में प्रतीक रूप से मनुष्य मूर्ति को स्थान तो दिया, जो कि उसके उद्देश्य के साथ संगत है, पर साथ ही उसके आस-पास शृंगार व आडंबर का इतना संभार आ गया जो कि निवृत्ति के लक्ष्य के साथ बिल्कुल असंगत है। स्त्री और शूद्र को आध्यात्मिक समानता के नाते ऊंचा उठाने का तथा समाज में समान स्थान दिलाने का जो जैन संस्कृति का उद्देश्य रहा वह यहां तक लुप्त हो गया कि न केवल उसने शूद्रों को अपनाने की क्रिया ही बंद कर दी बल्कि उसने ब्राह्मण धर्मी जाति-पांति की दीवारें भी खड़ी कीं। यहां तक कि जहां ब्राह्मण परंपरा का प्राधान्य रहा वहां तो उसने अपने घेरे में से शूद्र कहलाने वाले लोगों को अजैन कहकर बाहर कर दिया और शुरू में जैन संस्कृति जिस जाति-भेद का विरोध करने में गौरव समझती थी उसने दक्षिण जैसे देशों में नए जाति-भेद की सृष्टि कर दी तथा स्त्रियों को पूर्ण आध्यात्मिक योग्यता के लिए असमर्थ करार दिया जो कि स्पष्टतः कट्टर मनु परंपरा का ही असर है। मंत्र-ज्योतिष आदि विद्याएं, जिनका जैन संस्कृति के ध्येय के साथ कोई संबंध नहीं है, भी जैन संस्कृति में आई। इतना ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक जीवन स्वीकार करने वाले अनगणों तक ने उन विद्याओं को अपनाया। जिन यज्ञोपवीत आदि संस्कारों का मूल में जैन संस्कृति के साथ कोई संबंध न था वे ही दक्षिण भारत में मध्यकाल में जैन संस्कृति का एक अंग बन गए और इसके लिए ब्राह्मण परंपरा की तरह जैन परंपरा में भी एक पुरोहित वर्ग कायम हो गया। यज्ञयागादि की ठीक नकल करने वाले क्रिया-कांड प्रतिष्ठा आदि विधियों में आ गए। ये तथा ऐसी दूसरी अनेक छोटी-मोटी बातें इसलिए घटीं कि जैन संस्कृति को उन साधारण अनुयायियों की रक्षा करनी थी जो कि दूसरे विरोधी संप्रदायों में से आकर उसमें शरीक होते थे या दूसरे संप्रदायों के आचार-विचारों से अपने को बचा न सकते थे।'

यों तो सिद्धांतः सर्वभूतदया को सभी मानते हैं पर प्राणिरक्षा के ऊपर जितना जोर जैन परंपरा ने दिया, जितनी लगन से उसने इस विषय में काम किया उसका नतीजा सारे ऐतिहासिक युग में यह रहा है कि जहां-जहां और जब-जब जैन लोगों का एक या दूसरे क्षेत्र में प्रभाव रहा वहां सर्वत्र आम जनता पर जीव दया, प्राणिरक्षा का प्रबल संस्कार पड़ा है। यहां तक कि भारत के अनेक भागों में अपने को अजैन कहने वाले तथा जैन विरोधी समझने वाले साधारण लोग भी जीव मात्र की हिंसा से नफरत करने लगे हैं। अहिंसा के इस सामान्य संस्कार के कारण ही अनेक वैष्णव आदि जैनेतर परंपराओं के आचार-विचार पुरानी वैदिक परंपरा से बिल्कुल जुदा हो गए हैं। तपस्या के बारे में भी ऐसा ही हुआ है। त्यागी हो या गृहस्थ सभी जैन तपस्या के ऊपर अधिकाधिक झुकते रहे हैं।

इसका फल पड़ोसी समाजों पर इतना अधिक पड़ा है कि उन्होंने भी एक या दूसरे रूप से अनेक विधि-सात्विक तपस्याएं अपना ली हैं। और सामान्य रूप से साधारण जनता जैनों की तपस्या की ओर आदरशील रही है। यहां तक कि अनेक बार मुगल सम्राटों तथा दूसरे समर्थ अधिकारियों ने तपस्या से आकृष्ट होकर जैन संप्रदाय का बहुमान ही नहीं किया है बल्कि उसे अनेक सुविधाएं भी दी हैं, मद्य-मांस आदि सात व्यसनों को रोकने तथा उन्हें घटाने के लिए जैन वर्ग ने इतना अधिक प्रयत्न किया है कि जिससे वह व्यसन सेवी अनेक जातियों में सुसंस्कार डालने में समर्थ हुआ है। यद्यपि बौद्ध आदि दूसरे संप्रदाय पूरे बल से इस सुसंस्कार के लिए प्रयत्न करते रहे पर जैनों का प्रयत्न इस दिशा में आज तक जारी है और जहां जैनों का प्रभाव ठीक-ठीक है वहां इस स्वैरविहार के स्वतंत्र युग में भी मांसभक्षी लोग भी खुल्लमखुल्ला मांस-मद्य का उपयोग करने में सकुचाते हैं। लोकमान्य तिलक ने ठीक ही कहा था कि गुजरात आदि प्रांतों में जो प्राणिरक्षा और निर्मास भोजन का आग्रह है वह जैन परंपरा का ही प्रभाव है। जैन विचार-सरणि का मौलिक सिद्धांत यह है कि प्रत्येक वस्तु का विचार अधिकाधिक पहलुओं और अधिकाधिक दृष्टिकोणों से करना और विवादास्पद विषय में बिल्कुल अपने विरोधी पक्ष के अभिप्राय को भी उतनी ही सहानुभूति से समझने का प्रयत्न करना जितनी कि सहानुभूति अपने पक्ष की ओर हो। और अंत में समन्वय पर ही जीवन व्यवहार का फैसला करना। यों तो यह सिद्धांत सभी विचारकों के जीवन में एक या दूसरे रूप से काम करता ही रहता है। इसके सिवाय प्रजा जीवन न तो व्यवस्थित बन सकता है और न शांति लाभ कर सकता है। पर जैन विचारकों ने उस सिद्धांत पर इतना अधिक जोर दिया है कि जिससे कट्टर से कट्टर विरोधी संप्रदायों को भी कुछ प्रेरणा मिलती ही रही है। रामानुज का विशिष्टाद्वैत, उपनिषद् की भूमिका के ऊपर अनेकांतवाद ही तो है।

जैन संस्कृति के मर्म को समझने के लिए हमें थोड़े से उन आदर्शों का परिचय करना होगा जो पहले से आज तक जैन परंपरा में एक-से मान्य हैं और पूजे जाते हैं। सबसे पुराना आदर्श जैन परंपरा के सामने ऋषभदेव और उनके परिवार का है। ऋषभदेव ने अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग उन जवाबदेहियों को बुद्धिपूर्वक अदा करने में बिताया जो प्रजा पालन की जिम्मेदारी के साथ उन पर आ पड़ी थीं। उन्होंने उस समय के बिल्कुल अनपढ़ लोगों को लिखना-पढ़ना सिखाया, कुछ काम-धंधा न जानने वाले वनचरों को उन्होंने खेती-बाड़ी तथा बढ़ई, कुम्हार आदि के जीवनोपयोगी धंधे सिखाए, आपस में कैसे बरतना, कैसे समाज नियमों का पालन करना—यह भी सिखाया। जब उनको महसूस हुआ कि अब बड़ा पुत्र भरत प्रजा शासन की सब जवाबदेहियों को निबाह लेगा तब उसे राज्य भार सौंपकर गहरे

आध्यात्मिक प्रश्नों की छानबीन के लिए उत्कृष्ट तपस्या करने घर से निकल पड़े।

ऋषभदेव की दो पुत्रियां ब्राह्मी और सुंदरी नाम की थीं। उस जमाने में भाई-बहन के बीच शादी की प्रथा प्रचलित थी। सुंदरी ने इस प्रथा का विरोध करके अपनी सौम्य तपस्या से भाई भरत पर ऐसा प्रभाव डाला कि जिससे भरत ने न केवल सुंदरी के साथ विवाह करने का विचार ही छोड़ा बल्कि वह उसका भक्त बन गया। ऋग्वेद के यमीसूक्त में भाई यम ने भगिनी यमी की लग्न की मांग को अस्वीकार किया जब कि भगिनी सुंदरी ने भाई भरत की लग्न की मांग को तपस्या में परिणत कर दिया और फलतः भाई-बहन के लग्न की प्रतिष्ठित प्रथा समाप्त हो गई।

ऋषभ के भरत और बाहुवली नामक पुत्रों में राज्य के निमित्त भयानक युद्ध शुरू हुआ। अंत में द्रुपद युद्ध का फैसला हुआ। भरत का प्रचंड प्रहार निष्फल गया। जब बाहुवली की वारी आई और समर्थतर बाहुवली को जान पड़ा कि मेरे मुष्टि प्रहार से भरत की अवश्य दुर्दशा होगी तब उसने उस भ्रातृविजयाभिमुख क्षण को आत्म विजय में बदल दिया। उसने यह सोचकर कि राज्य के निमित्त लड़ाई में विजय पाने और फिर वैर-प्रतिवैर तथा कुटुंब कलह के बीज बोने की अपेक्षा सच्ची विजय अहंकार और तृष्णा-जय में ही है, उसने अपने बाहुबल को क्रोध और अभिमान पर ही चलाया और अवैर से वैर के प्रतिकार का जीवंत दृष्टान्त स्थापित किया। फल यह हुआ कि अंत में भरत का भी लोभ तथा गर्व खत्म हुआ।

एक समय था जबकि केवल क्षत्रियों में ही नहीं पर सभी वर्गों में मांस खाने की प्रथा थी। नित्य प्रति के भोजन, सामाजिक उत्सव, धार्मिक अनुष्ठान के अवसरों पर पशु-पक्षियों का वध ऐसा ही प्रचलित और प्रतिष्ठित था जैसा आज नारियलों और फलों का चढ़ना। उस युग में यदुनंदन नेमि कुमार ने एक दृढ़ कदम उठाया। उन्होंने अपनी शादी पर भोजन के वास्ते वध किए जाने वाले निर्दोष पशु-पक्षियों की आर्त मूक वाणी से सहसा पिघलकर निश्चय किया कि वह ऐसी शादी न करेंगे जिसमें अनावश्यक और निर्दोष पशु-पक्षियों का वध होता हो। उसी गंभीर निश्चय के साथ वह सबकी सुनी-अनसुनी करके बारात से शीघ्र वापस लौट आए। द्वारका से सीधे गिरनार पर्वत पर जाकर उन्होंने तपस्या की। कौमारव्य में राजपुत्री का त्याग और ध्यान तपस्या का मार्ग अपनाकर उन्होंने उस चिर प्रचलित पशु-पक्षी वध की प्रथा पर इतना गंभीर प्रहार किया कि जिससे गुजरात भर में और गुजरात के प्रभाव वाले दूसरे प्रांतों में भी वह प्रथा नाम शेष हो गई और जगह-जगह आज तक चली आने वाली पिंजरापोलों की लोकप्रिय संस्थाओं में परिवर्तित हो गई।

पार्श्वनाथ का जीवन-आदर्श कुछ और ही रहा है। उन्होंने एक बार दुर्वासा जैसे सहजक्रोध तापस तथा उनके अनुयायियों की नाराजगी का खतरा उठाकर भी एक जलते सांप को गीली लकड़ी से बचाने का प्रयत्न किया। फल यह हुआ कि आज भी जैन प्रभाव वाले क्षेत्रों में कोई सांप तक को नहीं मारता।

दीर्घ तपस्वी महावीर ने भी एक बार अपनी अहिंसा वृत्ति की पूरी साधना का ऐसा ही परिचय दिया। जब जंगल में वह ध्यानस्थ खड़े थे, एक प्रचंड विषधर ने उन्हें डस लिया। उस समय वह न केवल ध्यान में अचल ही रहे बल्कि उन्होंने मैत्री भावना का उस विषधर पर प्रयोग किया जिससे वह अहिंसा प्रतिष्ठियां तत्सन्निधौ वैरत्यागः इस योगसूत्र का जीवित उदाहरण बन गया।

अनेक प्रसंगों पर यज्ञयागादि धार्मिक कार्यों में होने वाली हिंसा को तो रोकने का भरसक प्रयत्न वह आजन्म करते ही रहे। ऐसे ही आदर्शों से जैन संस्कृति उत्प्राणित होती आई है और अनेक कठिनाइयों के बीच भी उसने आदर्शों के मर्म को किसी न किसी तरह संभालने का प्रयत्न किया है, जो भारत के धार्मिक, सामाजिक और राजकीय इतिहास में जीवित है। जब कभी सुयोग मिला तभी त्यागी तथा राजा, मंत्री तथा व्यापारी आदि गृहस्थों ने जैन संस्कृति के अहिंसा, तप और संयम के आदर्शों का अपने ढंग से प्रचार किया।

संस्कृति मात्र का उद्देश्य है मानवता की भलाई को और आगे बढ़ाना। यह उद्देश्य तभी वह साध सकती है जब वह अपने जनक और पोषक राष्ट्र की भलाई में योग देने की ओर सदा अग्रसर रहे। किसी भी संस्कृति के बाह्य अंग केवल अभ्युदय के समय ही पनपते हैं और ऐसे ही समय वे आकर्षक लगते हैं। पर संस्कृति के मर्म की बात जुदा है। समय आफत का हो या अभ्युदय का, उसकी अनिवार्य आवश्यकता सदा एक-सी बनी रहती है। कोई भी संस्कृति केवल अपने इतिहास और पुरानी यशगाथाओं के सहारे न जीवित रह सकती है और न प्रतिष्ठा पा सकती है जब तक कि वह भावी निर्माण में योगदान न दे। इस दृष्टि से भी जैन संस्कृति पर विचार करना संगत है। हम ऊपर कह चुके हैं कि यह संस्कृति मूलतः निवृत्ति अर्थात् पुनर्जन्म से छुटकारा पाने की दृष्टि से आविर्भूत हुई। इसके आचार-विचार का सारा ढांचा उसी लक्ष्य के अनुकूल बना है। पर हम यह भी देखते हैं कि आखिर में वह संस्कृति व्यक्ति तक सीमित न रही। उसने एक विशिष्ट समाज का रूप धारण किया। समाज कोई भी हो वह एकमात्र निवृत्ति की भूलभुलैयां पर न जीवित रह सकता है और न वास्तविक निवृत्ति ही साध सकता है। यदि किसी तरह निवृत्ति को न मानने वाले और सिर्फ प्रवृत्ति चक्र का ही महत्व मानने वाले आखिर में उस प्रवृत्ति के तूफान और आधी में ही फंसकर मर सकते हैं तो यह भी उतना ही सच है कि प्रवृत्ति का आश्रय बिना लिए निवृत्ति भी हवाई किला बन जाती है। ऐतिहासिक और दार्शनिक सत्य यह है कि प्रवृत्ति एक ही मानव-कल्याण के सिक्के के दो पहलू हैं। दोष, गलती, बुराई और अकल्याण से तब तक कोई नहीं बच सकता जब तक वह साथ ही साथ उसके एवज में सदगुणों की पुष्टि और कल्याणमय प्रवृत्ति में जोर न दे। कोई भी बीमार केवल अपथ्य और कुपथ्य से निवृत्त होकर जीवित नहीं रह सकता। उसे साथ ही साथ पथ्य सेवन करना चाहिए। शरीर से दूषित रक्त को निकाल डालना जीवन के लिए अगर जरूरी है तो उतना ही जरूरी उसमें नए रुधिर का संचार करना भी है।

ऋषभ से लेकर आज तक निवृत्तिगामी कहलाने वाली जैन संस्कृति भी जो किसी न किसी प्रकार जीवित रही है वह एकमात्र निवृत्ति के बल पर नहीं किंतु कल्याणकारी प्रवृत्ति के सहारे पर। यदि प्रवर्तक धर्मी ब्राह्मणों ने निवृत्ति मार्ग के सुंदर तत्वों को अपनाकर एक व्यापक कल्याणकारी संस्कृति का ऐसा निर्माण किया है जो गीता में उज्जीवित होकर नए उपयोगी स्वरूप में गांधीजी के द्वारा पुनर्जीवित हुई है तो निवृत्तिलक्षी-जैन संस्कृति को भी कल्याणाभिमुख आवश्यक प्रवृत्तियों का सहारा लेकर ही आज की बदली हुई परिस्थिति में जीना होगा। जैन संस्कृति में तत्त्वज्ञान और आचार के जो मूल नियम हैं और वह जिन आदर्शों को आज तक पूजनी-माननी आई है उनके आधार पर वह प्रवृत्ति-निवृत्ति का ऐसा मंगलमय योग साध सकती है जो सबके लिए क्षेमकर हो। □

(प्रकाशन विभाग द्वारा शीघ्र प्रकाश्य पुस्तक भारत और मानव संस्कृति से साभार)

कहानी



दीर्घा

ओम प्रकाश गंगोला

रेखांकन : राजेंद्र गायकवाड़



आज इस आदर्श विद्यालय के प्रधानाचार्य की कुर्सी पर बैठा हूँ तो अपने को अजीब-सी एक भाव-यात्रा में पा रहा हूँ। तमाम पुराने प्रधानाचार्य याद आ रहे हैं। इसी विद्यालय में पढ़ा हूँ। यहीं अध्यापक और प्राध्यापक की सीढ़ियाँ चढ़ा हूँ। अपने प्रति स्वयं ही सम्मानित भाव अनुभव कर रहा हूँ।

पर आज यह पद सम्मान का कहाँ रह गया है? कुर्सी पर बैठते ही अकेला हो गया हूँ। तमाम चुनौतियाँ हैं। मैं केंद्र में आ गया हूँ। चारों ओर सरगर्मियाँ बढ़ रही हैं। खेमे अपनी सापेक्षताएं तय कर रहे हैं। मुझसे दूरियाँ और नजदीकियाँ मूल्यांकित हो रही हैं।

मैं थोड़ा बेचैन-सा, उन्माद में हूँ। पिता ने कभी जब इस विद्यालय में पढ़ने भेजा था तो उनके मन में एक अजीब-सा विश्वास था कि अब बेटा जीवन की ऊँचाइयाँ लावेगा। तब अपनी सार्थकता में यह आदर्श विद्यालय ही था। यहां के प्राध्यापकों की दूर-दूर तक धूम थी। राजा राघवेंद्र सिंह ने स्वतंत्रता के कुछ वर्षों पहले के व्याप्त राष्ट्रीय उन्माद, एक वेगवती लहर के प्रवाह में, इसे बनाया था। सारे भारत से चुन-चुनकर शिक्षाविद बुलाए गए थे। कुछ नहीं था, कहीं नहीं था, जाति और क्षेत्र का भाव। राजा साहब नियुक्त प्राध्यापकों की अगवानी करने खुद आते थे। उन्हें कोठियाँ दिखाते। कठिनाइयाँ पूछते। पूरे क्षेत्र में राजा साहब सिर-आँखों पर उठा लिए गए थे। वाहवाही और जय-जयकार थी उनकी। लोग तरसते थे ऐसी संस्था में प्रवेश के लिए। छात्र रूप में प्रवेश पाना भी एक उपलब्धि थी। धर्म-दर्शन, कला-संगीत, ज्ञान-विज्ञान का गढ़ था यह कालेज।

पहले दिन कर्सी पर बैठते ही, पिता की आशीर्ष मुद्रा में चमकती आँखें, टेबुल पर रखे टेबुल ग्लास से, मेरी ओर झाँकती लगी थीं।

पर वह तो सब अब बिखर गया है। क्षेत्र और जाति का स्वर है। आदमी काफी स्थूल होकर अपने निकट तक सरक आया है। तर्क के नहीं, शक्ति के दबाव हैं। मुझे तो बने रहने का शक्ति संतुलन देखना है और संतुलनकारियों को बनाए रखना है। मैं वही करूँगा भी। आदर्श कोई शक्ति नहीं है। वह नाम है। सत्य तो 'समरथ' का है। सामर्थ्य भी शुद्ध भौतिक है। डिगरियाँ, योग्यताएँ, वरिष्ठता सब केवल वक्त पर काम आने वाली एक प्रकार की बंदूकें और उनका बारूद हैं। मेरे पदासीन होने के पीछे भी वही कहानी है। आदर्श विद्यालय के संस्थापकों ने कभी इस तर्क पर कि इस संस्था में रचा-बसा व्यक्ति ही उसके संस्थापक उद्देश्य को सार्थकता और विकास दे सकता है, यह नियम बना

दिया था कि इसी महाविद्यालय का वरिष्ठ प्राध्यापक यहाँ का प्रधानाचार्य होगा। पर व्यवहार हर चीज के अर्थ देता है। मैं वरिष्ठों में था पर वरिष्ठताओं से दो-तीन सीढ़ी पीछे था। एक अतिरिक्त योग्यता मेरी रही है कि राजा राघवेंद्र सिंह का मैं दूर के रिश्ते का लगा लिए हूँ। बस एक खेमे ने मुझे बिना बताए, स्वीकृति के पूर्व ही मेरी स्वीकृति, निहित मानकर, प्रारंभ प्रारंभ के दो-तीन अग्रजों से प्रधानाचार्य पद हेतु असमर्थता का रुक्का लिखवा लिया। वे सभी प्रतिष्ठित बुद्धिजीवी हैं और संसार की गतियों को समझते हैं। महत्वाकांक्षा, अधिकार की भावना, सम्मान बोध सब पर उन्होंने कालिख पोत ली है। वे जानते थे कि उन्हें चलने नहीं दिया जाएगा। मैनेजमेंट ने बाकायदा विधान देते हुए मेरी नियुक्ति कर दी।

पर इस कुर्सी पर बैठते ही यह एक अजीब रोमांच मेरी रगों में भर रहा है। इस प्रधानाचार्य को कुर्सी को तख्तेताऊस की तरह सुरक्षित रखा गया है। किसी प्रधानाचार्य ने इसे बदला नहीं। परंपरा के नाम पर अब ऐसी ही कुछ चीजें यहां सुरक्षित हैं। पर मैं बधाइयों, भीड़-भाड़ियों से ज्योंही अलग हुआ हूँ तो वे सारे प्रधानाचार्य, जिनके अनुशासन, ज्ञान, व्यक्तित्व की यहां धूम रही, मेरे युवा मन पर जिनकी छाप है, वे सब कालेज में घूमते, संबोधन करते, कार्य की व्यस्त मुद्राओं में मेरी स्मृति से निकलकर साक्षात् हो रहे हैं। मैं देख रहा हूँ, हम विद्यार्थी प्रभु देव प्राचार्य महोदय को देखते ही कक्षाओं की ओर अथवा उनकी तेज निगाहों से बचने के लिए किसी ओट की ओर भाग रहे हैं। कक्षा में हुई हल्की-फुल्की बदतमीजी के लिए डा. विनय गांगुली ने सवाल पूछे हैं और हम थरथरा रहे हैं। बोंबवाल साहब कालेज के वार्षिकोत्सव में छात्रों को संबोधित कर रहे हैं और सारा समाज मुग्ध, उनकी धाराप्रवाह अलंकृत भाषा की मोहक अभिव्यक्ति में डूबा है। डाक्टर व्योमकेश मिश्रा ने राजा राघवेंद्र सिंह के नाती को किसी लड़की पर कुछ फिकरा कसते सुन लिया है। ठाकुर को तुरंत तलब कर लिया गया है। पर ठाकुर तो ठाकुर। उसने अपनी शान में कह दिया—यह कालेज मेरे दादा का है, आपकी हैसियत ही क्या है? प्रिंसीपल साहब ने सीधे निष्कासन आदेश जारी कर दिया है। हंगामा मचा है। पर प्रधानाचार्य का एक ठंडा स्पष्ट तर्क है कि अगर छात्र, राजा साहब का निकटस्थ न होता तो मैं उसे एक बार माफ भी कर देता, पर इस केस में माफी की कोई गुंजाइश नहीं है। समाचार बूढ़े राजा साहब तक भी पहुंचा और उन्होंने स्वयं विद्यालय आकर प्रधानाचार्य के पक्ष की दृढ़ता और न्यायिक भविष्य बोधी दृष्टि को सबके सामने स्पर्ण

अक्षरों में अंकित कर दिया है। साथ में यह भी प्रमाण-पत्र कि मुझे अब विश्वास हुआ है कि यह मेरी आकांक्षाओं का आदर्श विद्यालय वास्तव में आदर्श हाथों में है।

जाने कितने-कितने स्मृति-चित्रों का आवेश है मेरे मन में। वह सारा समय बहुत पीछे का भी नहीं है। चार-पांच दशाब्दियों के पार का प्रकाश है यह सब। पर अब सब बिखर गया है। कालेज की महान दीवारें शब्दों के कूड़ाघर-सी काली इबारतों से पुती हैं। प्रधानाचार्य लड़कों से बच रहा है। इस तरह व्यवस्था 'रहस्यवादी' हो गई है। क्या होगा, किसी को ठीक मालूम नहीं। प्रत्यक्ष में 'राजा राघवेंद्र स्वायत्तशासी आदर्श महाविद्यालय' की इबारत वाला विशाल गेट अभी भी ऊँचा उठा हुआ है।

पर मुझे परिवर्तन की बात सोचनी भी कहाँ है! मेरा रास्ता साफ है। अगले पांच वर्ष बिताने हैं। हवा के साथ बहने का निष्कटंक रास्ता चुनना है। पर पिता की आँखें मेरी ओर अब भी देख रही हैं। क्या कहूँ इन आँखों से? मनुष्यता जब भी गणितीय होती है तो आदमी मेढ़ा हो जाता है।

याद आ रहे हैं पुत्तलाल श्रीवास्तव। अभी तीन वर्ष पहले वह विद्यालय के प्रधानाचार्य बने थे। छः महिने में ऐसी स्थिति ला दी गई कि वे प्रिंसीपली से तो गए ही, उन्हें इस आदर्श महाविद्यालय को भी छोड़ना पड़ा, जहाँ वह पच्चीस वर्ष रहे थे। कुछ रंग-रंग उनका विचित्र अवश्य था। मैं भी उनका खेल हास्य मुद्राओं में निढाल होता ही देखता रहा। पर अब लग रहा है, क्या पता उन्हें भी ऐसी ही पारदर्शी सजल मुक्त फैली आँखें, कुर्सी में बैठते ही दिखी हों। आखिर वह भी तो इसी विद्यालय में सारा कुछ सीखे थे। उन्होंने भी आदर्श की स्पंजी उछाल अनुभव की होगी। उनका मन भी कभी हवा में तैरा होगा, उड़ा होगा ऊँची दिशाहीन पंखिल उड़ान। आवेशित हुई होगी उनकी शिराएँ। कांपे होंगे उनके हाथ सब कुछ बदल देने को।

वह हिंदी के आदमी थे। भाव ही उनका संसार था। बौद्धिक ठंडापन उन्हें भाता नहीं था। यहीं राग, विराग हो गया। वह उद्देलित लहराते रहे, नीचे ठंडे लोगों ने जमीन खिसका दी। पुत्तलाल अंधेरी गतों में समा गए। मैं अपने पैरों के नीचे की इस खिसकन को देख पाता हूँ। अतः महल रच नहीं पाता। उड़ना चाहा है पर उड़ा नहीं जाता। पर पिता की ये आँखें?

पिता की ये आँखें अपनी उज्ज्वल आश्वस्ति में कई बार प्रकट होती हैं। जब भी अकेले में इस

विशाल कमरे में टंकी राजा राघवेंद्र सिंह एवं विभिन्न प्रधानाचार्यों की तस्वीरें देखता हूँ तो इस ऐतिहासिक क्रम में अपने को पाकर प्रफुल्लित हो उठता हूँ। मन में एक धारा-सी प्रवहमान हो उठती है। उसी आत्ममुग्धता में पिता की आंखें वादलों की ओट से युगल-चंद्र-सी खिल आती हैं। जैसे कहती हों—‘इसी इसी दिन के लिए तो मेरी आत्मा प्रतीक्षित थी।’ पर अब कुछ दिनों से मैं इन आंखों से सहमने लगा हूँ। ऐसा निर्मल नदी-सा भाव रहता है उनमें कि वह मुझे, मात्र मेरे लिए नहीं लगता। उनमें एक आश्वस्ति है—सबके लिए, सर्वार्थ।

पर रघुराज सिंह जैसे लोग मुझसे सटकर चलने लगे हैं, कंधे से कंधा छिलने लगा है, आवाज में खुसफुसाहट है और आंखें टटोलती—राजदार। मुझमें भय समा रहा है क्योंकि यह सब अंदर तिलमिलाहट भर रहा है। मुझे इस पद तक पहुंचाने में रघुराज प्रमुख रहा है। पर मैं उससे चौंकने लगा हूँ। कुढ़न-सी होने लगी है। किसी तरह सहज बना रह पाता हूँ। लगातार अपने साथ देखकर कई बार जुवान तक यह वाक्य आता-आता रह गया है—डा. रघुराज सिंह, क्या तुम्हारी कक्षाएं नहीं हांती? पर अपनी ही आंखों में कोहरा सरकता अनुभव करता हूँ। आंखें नीची किए कोई फाइल उलटता रहता हूँ। वह कहना चाहता है कालेज की खबरें, लोगों के राग-रंग। कहता भी है। मैं सुनता हूँ, नहीं भी सुनता हूँ। पर उसकी आंर पेंनेपन से देख नहीं पाता। उसकी झुंझलाहट छूटभड़्यों पर उतार चुका हूँ। वे शायद उससे शिकायत भी कर चुके हैं पर अधिक बड़े खेलों की भूमिका में माहिर वह इस सहज-सी मूर्खता को अधिक महत्व नहीं देता।

मन जब भी सहमा, गड़ड़-गड़ड़ होता है, पिता की आंखें नहीं दिखतीं। शांत, एकाग्र और आदर्श महाविद्यालय के इतिहास बोध में होता हूँ तो वह रूप स्पष्ट हो उठता है। पिता मुझे बहुत प्रिय थे। बहुत रचा उन्होंने मुझे। उनकी इच्छानुकूलता में होना एक सुरूर में ला देता है। पर उस अतीत धारा को यहां तक खींच लाना?

कल कुछ चौकीदारों का चुनाव किया है। रघुराज ने अधिक दखल नहीं दिया। शायद उसकी इन चुनावों में अधिक रुचि नहीं थी। उसकी निगाहें भविष्य में होने वाले व्याख्याताओं के पदों की ओर हैं। वह मुझसे निश्चित है, अन्य चयनकारी शक्तियों के तैवर आंक रहा है। पर आज चौकीदारों के चुनाव की घोषणा के बाद आया अवश्य है—तना हुआ। उसे कुर्सी पर सामने बैठते

और मुझे तरेरते मैंने अनुभव किया है। सिफारिशें तो आजकल किस बात के लिए नहीं आतीं। फिर यह तो हजार-डेढ़ हजार रुपया प्रतिमाह की फसल है। कई लोग आए। कुछ जात और जमीन वाले। मेरी सेवा करने का मौका चाहते थे। मूंछों की उठी नोक पर यह भाव फुदक रहा था कि भला हमसे कौन काम करा लेगा? कुछ इधर-उधर और माह की पगार पक्की। शौक-पानी का खर्चा निकल जाएगा। बाकी तो ईश्वर का दिया है ही। कुछ वे-जात भी थे, गिड़गिड़ाहट लिए। पर हाथ में लाए थे आभिजात्य की चमक—“प्रिंसीपल साहब, गरीब आदमी है, खूब काम करेगा—ख्याल रखें।” एक-दो पगारों का ठेका पहले ही हो चुका होगा। परिचय, मित्रता, रिश्ता, सभी कुछ भुनाया जा रहा था। कुछ जरूरतमंद भी थे। कभी-कभार हाथ जोड़ देते। कुछ कह पाने का साहस जुटाते-जुटाते अपनी ही जगह ढेर-से हो जाते।

जीवन भर बेचारा अध्यापक ही रहा हूँ। आज मैं अपनी कलम से प्रथम नियुक्तियां दे रहा था। कुछ को आने वाले वर्षों के लिए रोटियां दे रहा था। दाता होने का भाव रगों में गरमाहट भर जाता। घर में रखी पिता की तस्वीर के सामने इस भाव से खड़ा हो गया था कि ‘पिता, देखा तुमने अपने पुत्र को!’ अपने स्वयं के निर्णय से करना चाहता था सब कुछ। पूरी तरह जीना चाहता था अपने हस्ताक्षरों का महत्व-भाव—डा. त्रिलोकी नारायण सिंह, प्रधानाचार्य, राजा राघवेंद्र स्वायत्तशासी आदर्श महाविद्यालय। पर रघुराज सिंह का अस्तित्व, महत्व-भाव में फफूंद-सा उग आता है। जाने क्यों वह अंत तक इस बारे में कुछ भी कहने नहीं आया। अब आया है जब नव नियुक्तियां दी जा चुकी हैं, डाक से भेजी जा चुकी हैं। मैंने अभी तक उसके चेहरे की ओर ठीक से देखा नहीं है।

“आपने हमें इस काविल भी न समझा कि लिस्ट निकालने से पहले कम से कम दिखा देते!” देखना पड़ा है उसकी आंखों में। तेज हरी मिर्च का-सा भाव फैला है वहां। बाहर से आकर्षक घुमावदार और अंदर से तीखा, वेहद तीखा। लड़खड़ाहट आई है मेरे अंगों में, चेहरा विकृत हुआ है। यों ही कलमदान से कलम उठा ली है, जैसे बाहर देखा है कि कोई चौकीदार कुछ साइन-वाइन कराने ला रहा हो। फड़फड़ा रहा है मन और वह तीखा घूर रहा है। अपने चेहरे पर उसकी आंखों की ऊप्मा अनुभव कर रहा हूँ। स्वतः खिंची-सी आंखें सहमी-सहमी उसकी आंर एक बार और उठी हैं पर उसी ने बात संभाल ली है। ऐसे लोगों में कितना संयम होता है! उसने अपने सारे कसैलेपन को हरी-हरी गोल लिपटन में प्रकट किया है।

वह कह रहा है, “मैं आपके भले की बात करता।”

मेरे मुंह से अचानक, “कुछ गलत हुआ है क्या?” की अभिव्यक्ति स्त्रिंग में उलझे कंकर-सी अनचाहे छिटक गई है। मुझे अनुभव हो रहा है कि उसके चेहरे का छिलका उतर गया है। रक्त बिंदु उभर आने की तीखी पीड़ा गोल उभरी है उसकी आंखों में और प्रति आक्रामकता के भाव में उसने मुझे देखा है। पर कहा कुछ नहीं। थोड़ी देर बाद वह खड़ा हुआ और सिर झुकाए चला गया है। पर उसके पैरों की ठनक बता रही है कि वह प्रपंच रचेगा। शायद शाम को घर पर धमक जाए।

इस प्राचार्य की कुर्सी पर बैठकर बेकार के पचड़े में पड़ने लगा हूँ। रघुराज से बहुत डर लग रहा है। कई बार भय के मारे रीढ़ की हड्डी में अजीब-सी सिहरन अनुभव करता हूँ। इन दिनों वह पहले से अधिक विनम्र हो गया है। प्राचार्य की गरिमा में बने रहने देता है मुझे। कुछ दूर भी रहने लगा है। मुखर भी कम है इन दिनों। पर वह अपनी तैयारी में है। यशोधर सिंह मुख्यमंत्री को वार्षिक समारोह के लिए मुख्य अतिथि के रूप में बुलाने के प्रयत्न हो रहे हैं। यशोधर इसी क्षेत्र के हैं और रघुराज ने बहुत कार्य किया है उनके चुनाव में। पक्के आदमी हैं। दिखने में मायामय और दिव्य, अंदर से अनवुझी आग-से दाहक। दो-तीन तमंचेधारी हमेशा साथ चलते हैं—अंगरक्षक?

रघुराज से मिलकर आत्मसमर्पण कर देना चाहता हूँ। कह दूंगा—लाज रख लो, भाई! झमेला लेना व्यर्थ है। इस निर्णय से मन शांत-सा लग रहा है।

पर कालेज के बाद अकेले घर को लौट रहा हूँ तो मन कह रहा है—यक-व-यक हाथ भी नहीं जोड़ पाओगे, डा. त्रिलोकी। आज से पहले जो भी पाया है, अपनी पात्रता से ही पाया है। वाप-दादा भी हाथ जोड़ने वाले नहीं थे। इतना झुकना भी कष्टकर ही लग रहा है।

चाय की चुस्कियां लेते हुए शाम के समय आराम से अपने लॉन में बैठा हूँ। फिलहाल समस्याओं को झटकने की चेष्टा कर रहा हूँ। आसपास की हरियाली मदद कर रही है। प्राचार्य का यह वंगला यहां के आयुक्त की कोठी से भी विशाल, पुरातन स्थापत्य का नमूना है। तमाम तरह के रंगीन फूल लॉन में लगे हैं। अभी मुझे लग रहा है जैसे वे मुझे ही देख रहे हैं। मेरे प्राचार्य होने को बोध उन्होंने मेरे अंदर जैसे खड़ा कर दिया है। एक-दो माली आज भी इस बगिया की देख-रेख में लगे रहते हैं। आज तक मैंने प्रतिपल प्राचार्य

त्रिलोकीनाथ सिंह को समर्पित, इस सजीले साम्राज्य को, ठीक से देखा ही नहीं। यह इतना सुंदर, इतना विशाल—इसका भोक्ता मैं हूँ! यह भाव आज पहली बार नशे की तरह मेरे अस्तित्व में फैल रहा है। चाल अधिक अकड़ भरी, लापरवाह हो गई है। विशाल-वाटिका के मध्य बने शीशे के कक्ष में बैठ गया हूँ।

शाम हो रही है। सूर्य डूबने को है। चारों ओर एक ज्योतिष-सी चुप्पी है। प्रधानाचार्य-कक्ष में लगी पूर्व प्रधानों की तस्वीरें याद आ रही हैं। अपने से प्रश्न करने का मन हुआ है। क्या उनका जैसा नहीं हुआ जा सकता? क्या उन्हें वैसा होने की पूरी सुविधा थी? ऐसी सुविधा कभी होती है? कर्म और प्रयत्न का कुछ अर्थ तो होगा? मैं क्या कुछ करना चाहता हूँ? प्रधानाचार्य क्या होता है? मैंने समझा है? क्यों बैठ गया हूँ धूप से कुर्सी पर। मुझे चलाना है, लोग मुझे चला रहे हैं। शायद लाया ही इसलिए गया था। पर पिता की दिव्य आंखों के अतिरिक्त किसी ने चलाया तो नहीं आज तक त्रिलोकी को। त्रिलोकी, अब चलाना चाहते हो, तो कुर्सी पर, उस सिंहासन पर बैठना सीखना पड़ेगा। प्रधानाचार्य की हैसियत कितनी बड़ी आंकी होगी इस विद्यालय के संस्थापकों ने। इतना विशाल राजकीय निवास उनके दिल की बात खुद कह रहा है।

अचानक मद के अह्लाद में से यह प्रश्न उभरा है कि ये महान व्यक्ति अपनी कुर्सियों पर किस मुद्रा में बैठते होंगे? काल्पनिक गरिमा में हो उठा हूँ। उन मूर्तियों का ध्यान किया मैंने—एकाग्र। थोड़ी देर में मेरे सारे अस्तित्व में से आवेग-सा उमगा है। कितना आश्चर्यजनक! विचित्र! कल्पना करना कठिन है। मुझे लगा है, वे सारे प्रधानाचार्य अपनी कुर्सी में बस टिके भर रहते थे। कुर्सी की गद्दी की उछाल भरी संरचना उन्हें गुरुत्वाकर्षण के विपरीत केवल संतुलित किए रहती होगी। मेरा सारा शरीर जैसे पंखिल उड़ान भरने को तैयार है। ऐसी भारमुक्त अद्भुत-सी भावस्थिति में बहुत देर बना रहा हूँ। कक्ष की दीवारें संध्या के मोहक प्रकाश में नहा रही हैं। कितना साक्षात् है यह अनुभव! अपने में ही लीन हूँ।

चौकीदार मेरा ध्यान पाने को जाने कितनी देर से खड़ा है? उसने सूचना दी है, रघुराज साहब आए हैं। नाम सुनते ही सारे शरीर का वोझ जैसे कुर्सी को चरमराने लगा है। थोड़ी देर चुप ही रहा हूँ।

चौकीदार असमंजस में जड़ खड़ा है। कुछ देर बाद अपनी ही धीमी, किसी अतल से आती-सी आवाज सुनाई दी है, “यहीं भेज दो।” चौकीदार चला गया है। रघुराज की प्रतीक्षा में शरीर कुर्सी

मेरा सारा शरीर जैसे पंखिल उड़ान भरने को तैयार है। ऐसी भारमुक्त अद्भुत-सी भावस्थिति में बहुत देर बना रहा हूँ। कक्ष की दीवारें संध्या के मोहक प्रकाश में नहा रही हैं। कितना साक्षात् है यह अनुभव!

मैं मुड़मुड़ा-सा गया है। पर अंदर से कोई पुनः उछाल रहा है—“फिर वही? संयत होकर बैठो। प्रधानाचार्य हो।”

रघुराज आते दिख रहे हैं। हाथ में एक फाइल है। हल्की-हल्की मुस्कुराहट उनके अंदर रबर की गेंद-सी गूदा रही है। दरवाजे पर आकर थोड़ा रुक कर गंभीर चेहरा किए हल्के झुके हैं। पैरों में उछाल अब भी है। मेरे हाथ अपनी कुर्सी की पीठ के पीछे जाकर कसे हैं। पीठ को खींचा है मैंने और धीरे से कहा, “आइए।” वह सामने पड़ी कुर्सी पर बैठ गया है। थोड़ी देर हम दोनों चुप ही रहे हैं। अंत में मैंने ही कहा है, “क्या समाचार है?”

रघुराज ने फाइल यों ही खोली है और कहा है, “वार्फिक समारोह की तैयारी में लगा था। मुख्य मंत्री यशोधर जी ने आना स्वीकार कर लिया है।” उसने मेरी ओर आंखों को थोड़ा अधिक खोलकर देखा है। मैं सहज हो रहा हूँ।

केवल इतना कहा, “यह तो अच्छा है। कब रख रहे हो? आपको ही करनी है सारी व्यवस्था।” वह कुछ खिल उठा है। फाइल उसकी हथेलियों में उछल-सी रही है जैसे उसका वजन तोल रहा हो। आज मैं उसके सामने अपने को अधिक सहज अनुभव कर रहा हूँ। थोड़ी देर पहले के अनुभव का प्रभाव है शायद। उसके अंदर घटित हो रहे नाटक को मैं देख पा रहा हूँ जैसे किसी दीर्घा में बैठा होऊँ। सब कुछ नजर आ रहा है।

“फाइल में क्या लिए हो?” उसकी दुविधा को तोड़ा है मैंने।

“वो व्याख्याताओं की नियुक्तियां होनी हैं ना। मैंने सोचा, यशोधर जी से रोज-रोज तो मिलना हो नहीं पाता। विशेषज्ञों के पैनल के बारे में भी उनसे राय ले लूं। महाविद्यालय को विशेष अनुदान प्रोजेक्ट आदि दिलाने के लिए भी मैंने चर्चा कर ली है। वही सब टाइप कराकर ले गया था। पैनल

के नामों से वे एकदम संतुष्ट थे और।”

“बहुत आगे बढ़ रहे हो?” अबकी बार मैंने उसे खुली आंखों देखा—“अभी तो हमने पदों का विज्ञापन भी नहीं निकाला!”

“विज्ञापन का क्या है। स्थानीय पत्रों में निकाल दंगे। लोगों को लेना तो आपको ही है। आप भी यह फाइल देख लें।” उसने फाइल मेरी ओर बढ़ा दी है। मैंने हाथ नहीं बढ़ाया। थोड़ी देर वह हवा में धामे रहा अपनी फाइल। फिर उसका हाथ कांपने लगा और उसने फाइल अपनी टांगों के ऊपर रख ली। मेरी ओर थोड़ी दुश्चिन्ता में देखा। उसका विश्वास डगमगाया है। मुझे अच्छा लगा है।

“इसे अपने ही पास रखो। सब कुछ तो आप ही करेंगे?” मैंने हंसने की पूरी कोशिश की पर गुरुत्वभाव का तीखापन, अंत में आते-आते वाणी में घुल ही गया।

“नहीं करेंगे तो आप ही। प्रधानाचार्य तो आप ही हैं।”

“मैं करूंगा। तो मैं .. ही ... करूंगा। तुम्हारी फाइलें उलटकर तो नहीं ...।” निकल ही आया सारा तीखापन।

रघुराज अब सीधे अपने रंग में आ गया। “कर नहीं पाएंगे, सर!” वह धमकता हुआ चला गया। जाते-जाते यह भी कहता गया, “मत भूलिए, हमने आपको भी बनाया है।”

मैं कुर्सी से खड़ा होकर कमर में हाथ रखे उसे देखता रहा। जब वह धवधवाता हुआ मुझसे दूर निकल गया, मेरे मन में प्रश्न उठा, “आखिर यह रघुराज है कौन?” गूँजता रहा यह प्रश्न रात भर, ‘कौन है?’ मेरे सामने ही इस युवक ने हमारे विद्यालय में प्रवेश किया। कैसे कह रहा था—‘हमने आपको भी बनाया है। कर नहीं पाएंगे, सर!’ मेरे सामने नियुक्त होकर आया है। दबा-दबा-सा ‘सर ... सर’ करता रहता था। पिछले कुछ ही वर्षों में हुआ है वह करामाती। ऐसे कई लोगों को बदलते देखा है मैंने। कौन बदलते हैं उन्हें? क्यों बदलते हैं ये लोग? इन्हीं दिशाओं की ओर क्यों बढ़ते हैं वे? महत्वाकांक्षा विपाकत ही क्यों होती जाती है आज? मचता रहा मन में तूफान।

अपने सारे दौर में हम केवल चुप रहे। देखते रहे, हमें क्या करना है? केवल हाथ झटकते रहे। प्रधानाचार्य को उनके हाल पर छोड़ दिया—अकेला या मनमानी करने। चाय के प्यालों पर जपते रहे

मंत्र, वे ऐसे थे, वे वैसे थे, ये ऐसे हैं। नौकरी करते रहे, शिकायत भरे रोते रहे।

अध्यापक नाम की चीज, बहुत बौनी हो गई है आज। आए दिन लड़कों के बावले पर जब कोई थानेदार प्रधानाचार्य के कक्ष में घुस आता है तो लगता है, जैसे स्वयं राष्ट्रपति चले आ रहे हैं। कुर्सी पर बैठे रहना हिमाकत-सी लगने लगती है। आसपास बैठे अध्यापक चंचल हो उठते हैं। 'थानेदार साहब थानेदार साहब ...' के स्तुति मंत्र गूंजने लगते हैं। क्यों हो गया है ऐसा? मैं राजनीतिशास्त्र पढ़ाता रहा हूं पर देश की राजनीति में मेरे जैसों का भुनगे जैसा भी स्थान नहीं है। न मैं राय बनाता हूं। वह तो पत्रकार का काम है। न मैं राजनीति के द्रष्टा अथवा पारखी बना पाया हूं क्योंकि शास्त्र समझने से छात्र का सरोकार नहीं रह गया है। हम तो तोतों को उपाधियां बांटते रहे हैं। ऐसे में महत्वपूर्ण होने का नुस्खा रघुराज जैसे लोगों ने खोजा है। आखिर प्रतिभाएं निजत्व को उजागर तो करेंगी ही।

मैं इस सबको कैसे बदल सकता हूं? पर अब चुप होना कठिन लग रहा है। घिर गया हूं। लड़ाई एक सिरे से प्रारंभ करनी ही पड़ेगी। अध्यापकी के बाद जो अधिकार भाव मिला है, जो साम्राज्य हाथ आया है, उसे जीने की इच्छा है। अध्यापकी में त्यागी बना रहा। खाद की तरह सड़ता रहा अंदर और कहता रहा कि हम तो नई फसल लहलहाते हैं। रघुराज जैसे लोग सड़ने से इनकार करते हैं। पर फंस जाते हैं। दूसरों की इच्छाओं के मोहरे बन जाते हैं। उसे एक बार तो शिकस्त देनी पड़ेगी। उसका जाल काटना पड़ेगा।

मैंने लड़ने का मन बना लिया है। अब कोई रास्ता नहीं है। कालेज के सारे लोगों से मिला हूं इन दिनों। निरपेक्षता छोड़ दी है मैंने। सारे कालेज की सूचनाएं मिलते रहने के लिए अपना तंत्र फैलाया है। मुख्यमंत्री महोदय से तो दूसरे ही दिन मिल आया था मैं। खुश हूं मिलकर। जिस दिशा में नेताओं की चेतना व्यापती है उसी को पकड़ कर मैंने अपनी बात उन्हें समझाई। ठीक ही हुआ है शायद। मैंने उन्हें समझाने की चेष्टा की है कि अगर योग्यतम व्यक्तियों को चुनकर महाविद्यालय को पूर्व गरिमा में लाने का प्रयत्न किया जाता है तो उनकी जनता उन्हें सिर-आंखों पर बिठा लेगी। दो-चार अयोग्य स्थानीय नियुक्तियों से उनकी ख्याति शायद कम ही हो।

उनकी आंखों में चमक तो आई है। प्रदेश से राष्ट्रीय स्तर तक उठने की उनकी महत्वाकांक्षा तो जगजाहिर है। सोचता हूं, तीर ठीक ही बैठा है।

“महाविद्यालय दिवस पर आपके समक्ष, आपकी इस इच्छा की घोषणा भी करेंगे।” मैंने जोड़ा है।

“हां, ठीक है।” कहा तो है उन्होंने।

इधर रघुराज भी चुप नहीं रहा है। चुप रहता कैसे? अनुभव का विश्वास दिया गया है उसे। कुछ दिनों पूर्व बेबात की बात पर मेरे कार्यालय कक्ष में धमधमाते कुछ लड़के घुस आए थे। ऊधम मचाया उन्होंने। मेरी मेज ठोकी है और उछाल दिए हैं कुछ पत्र, कुछ कागज। फाइलों को उठाकर मेरी ओर फेंका है। मुंह फाड़कर चीखता रहा वह लड़का। मैं जानता हूं उसे। उसके कंधों में रघुराज की थपकियों के दाग स्पष्ट दिख रहे हैं। मैंने कहा कुछ नहीं है। शांत उसकी आंखों में देखा है लगातार। आदमी आंखों में देख पाने की ताकत जुटा ले और निभा ले तो नाटक दिखने लगता है। वह केवल नाटक कर रहा है। उसके अंदर दबी हंसी लगातार फूल रही है। आंखों के क्रोध भरे फैलाव में दरारें आ रही हैं। मैंने उसे छेड़ा नहीं है। उसके क्रोध को प्रतिक्रिया की हवा नहीं दी है।

“देख लेंगे”, कहकर उसने सामने से हट जाने का बहाना खोज ही लिया है।

रघुराज अनेक दिशाओं में गतिमान रहा है। लड़ाई अभी खुली नहीं है। अतः छिपा, छापामार युद्ध चल रहा है। पर छोड़ दी गई जहरीली वास्त, इस बुरी तरह अपने खेतों में भी जड़ें जमा लेती है, यह मुझे विश्वास नहीं था। डाक्टर बलवंत उप्रेती से मिलने पर विश्वास हुआ है कि जहर कैसे अनजाने अचानक फैल जाता है। उनसे मिलकर सकते में हूं।

रघुराज का गणित बहुत तगड़ा है। मेरे पुराने मित्र भी कुछ रूखे-रूखे हो गए हैं। मैं क्या करूं? मैंने यह सब सीखा नहीं। बातों और मुलाकातों की छोटी-छोटी शतरंजी चालें खेल-खेल में ऐसे ‘शह’ कह देंगी, कभी नहीं सोचा था। मैं हक्का-बक्का हूं। रघुराज का लोहा मान लेने को भी मन कर रहा है। रघुराज इतने ही दिनों में मुझे अकेला कर देना चाहता है। आज तो हद ही हो गई। डा. बलवंत उप्रेती जैसे विद्वान मित्र ने मुझे छोट देने के लिए आड़े-तिरछे वार किए हैं। डा. बलवंत मेरे वेहद प्रिय रहे हैं। जब कभी आवेगित हुआ हूं, जब कभी खुशियां बांटने की इच्छा हुई है, जब कभी उदासी ने दबोचने के उपक्रम किए हैं—मैं बलवंत के पास गया हूं। मैं राजनीतिशास्त्र का आदमी, वह फिजिक्स का विद्वान, पर मैंने उसे अपने शोधपत्र पढ़ाए हैं। कितनी एकाग्रता से सुना है उसने! मेरे तथ्यों को न जानते हुए भी तर्कों को

तराशने की कला सिखाई है उसने। ऐसी समझ वाला व्यक्ति भी धोखा खा जाता है?

आज जैसे ही उनके कमरे में पहुंचा तो सुना, “कहिए, प्रधानाचार्य महोदय!” शब्दों की तीखी धार। कुर्सी की ओर उठा हुआ सीधा ऐंठन भरा हाथ। “बैठिए”, का धमाका।

“कहिए कैसे याद आ गई?” कुर्सी पर अपने को संभालना कठिन हो गया है।

वह मेज के ऊपर और करीब लगी अलमारी में कागजों को इधर-उधर कर रहे हैं। जैसे मैं कुछ होऊं ही नहीं। मैं उनकी निगाहें पकड़ना चाहता हूं पर वे झुकी हुई, व्यस्तता ओढ़े हैं।

“यों ही चला आया था। आपसे एपाइंटमेंट लेने की आवश्यकता कभी नहीं अनुभव की ...”

अब देखा है उन्होंने मेरी ओर। अंतिम वाक्य कहते हुए आवाज में थोड़ी पीड़ा भी घुल गई थी। हाथ जोड़े—“सहयोग चाहता हूं।”

इतना ही कहा। शेष कुछ नहीं कहा। आंखें जो कह सकी होंगी, वही संवाद रहा। फिर उठकर चला आया हूं। दरवाजे से मुड़ते हुए दिखा कि डा. उप्रेती अपनी सीट पर संभवतः खड़े-से हो गए थे।

डा. उप्रेती से मिलने से पूर्व विजेता का-सा भाव मन में बमकने लगा था। आखिर हमने भी राजनीतिशास्त्र पढ़ा है। हमसे चाल चलेंगे? कुचल कर रख देंगे। अपने अंदर के भेड़िये के दांत चमकते लगे हैं। इन दिनों पिता की तस्वीर की ओर देखने का भाव नहीं आया। पर उप्रेती के प्रसंग ने थोड़ा विषाद दिया है। जागा हुआ भेड़िया सोने-सा लगा है। पिता की आंखों में अब फिर देखा। पहले तो उनकी दिव्य मुस्कुराहट वाला रूप जड़, एक ठहरा हुआ क्षण-सा बेजान लगा। पर देखता रहा उन आंखों को। उनमें रचा-बसा भाव कुछ समय बाद तरल-सा होकर फैलने लगा। ‘लड़ने के लिए शत्रु को ठीक-ठीक पहचानना होता है। वहीं आघात भी करना होता है।’ मन में यह वाक्य कौंधा और पिता की आंखें उज्ज्वल और तरलतर होती लगीं।

तब से सोचता रहा हूं। बड़ी लड़ाई हुई है अंदर ही अंदर। मैं ‘रघुराज रघुराज’ कह-कहकर मुट्ठियां उठाता रहा और कोई अंदर शांत ‘नहीं ... नहीं ... नहीं’ कहता रहा है। स्वप्न में रघुराज को पटक-पटककर वेदम करता रहा हूं पर कोई बीच में आकर, विकल आर्तनाद करता है ... हा ... हा ... नहीं ... नहीं। □

इस पतझड़ में आना

पत्र शैली में लिखा गया, जाने-माने कथाकार असगर वजाहत का हंगेरी जीवन का अंतरंग चित्रण।

लंदनवासी पंजाबी कवि यानी अमरजीत चंदन,

क्या तुमने कमस खाई है कि तुम जो पत्र लिखोगे उनकी लंबाई तुम्हारी कविताओं से ज्यादा न होगी।

इधर कुछ बदमाशों ने 'पिक्चर पोस्टकार्ड' बनाकर तुम्हारी इस कोशिश में चार चांद लगा दिए हैं। यानी तुम्हारा पिक्चर पोस्टकार्ड मिला। पढ़कर जल गया। खुदा के बंदे, दोस्तों को खत लिखा करो तो पिक्चर पोस्टकार्ड के वजूद को भूल जाया करो और मेरी तरह सफेद कागज के कई पन्ने स्याह कर डाला करो, अब तुम समय का रोना रोने लगोगे। तो समय पर एक शेर सुनो :

वक्त की डोर को थामे रहे मजबूती से
और जब छूटी तो अफसोस भी उसका न हुआ।

तो वक्त के बारे में थोड़ा निर्मम हो जाओ। अगर वक्त को ज्यादा महत्व दोगे तो तुम्हारे सिर पर चढ़कर बैठ जाएगा, तबला बजाएगा तब तुम क्या कर लोगे?

जहां तक तुम्हारे यहां आने की बात है, जब चाहो आओ—

खयाल खातिरे अहबाब चाहिए हर दम
अनीस ठेस न लग जाए आबगीनों को।

वैसे मेरा प्रोग्राम पूछना चाहते हो तो यह है कि शायद मई में जाना पड़े। यह अभी तक साफ नहीं है। बहरहाल तुम अप्रैल तक आ सकते हो, तब यहां रंगों की बहार होगी।

पिछली बार तुम आए थे तो सर्दियां थीं और सिर्फ दो ही रंग थे। काला और सफेद। मैं नहीं कहता कि सिर्फ दो रंग खूबसूरत नहीं हो सकते। लेकिन अगर रंग ही देखने हैं तो यहां पतझड़ के समय आओ। जब लंबे जाड़ों के बाद पेड़ों में नए फूल और पत्ते निकलते हैं।

तुमने तो देखा ही है कि बुदापेष्ट शायद यूरोप की अकेली राजधानी है जो अपने पहाड़ों के दामन में जंगलों के बड़े-बड़े टुकड़े छिपाए हुए है। यह भी शायद पुराने समाजवाद की ही देन है। नहीं तो बुदापेष्ट भी लंदन होता। व्यावसायिकता का इतना दबाव होता कि पार्कों को छोड़कर जितनी भी हरित-पट्टी होती उस पर इमारतें खड़ी हो गई होतीं।

पिछले पतझड़ के मौसम में मैंने खासा वक्त बुदापेष्ट के अंदर और ईर्द-गिर्द फैले जंगलों में बिताया, तुम बहुत उत्साहित न हो जाओ इसलिए

यह बताना भी जरूरी है कि अकेले —

तुम मेरे पास होते हो गोया
जब कोई दूसरा नहीं होता।

कुछ लोग कहते हैं कि पतझड़ का मौसम उदासी भरा होता है। मुझे तो ऐसा नहीं लगा। यह लगा कि शायद कोई न दिखाई देने वाला कलाकार है, शायद हवा, जो अपने हाथों में रंगों की झोली लिए एक-एक पत्ती और एक-एक फूल को ऐसे रंगों से रंग रही है जिनकी कल्पना करना भी आसान नहीं है। एक-एक पत्ती पर रंगों की ऐसी छटा देखने को मिली कि बयान से बाहर है। जंगल में पेड़ों के बदलते हुए रंग, दूर या पहाड़ के ऊपर से देखने पर ऐसे लगते हैं जैसे अद्भुत रंगों का बहुत बड़ा कैनवास हो। रंगों और उनके 'शेड्स' और बदलते हुए प्रभाव को कागज पर लिखना मेरे बस की बात नहीं है। भारतीय राजदूतावास के सेक्रेटरी त्रिपाठी जी के भाई बबलू त्रिपाठी उस जमाने में यहां आए हुए थे। उन्होंने इस सुंदरता को अभिव्यक्ति देने का एक तरीका खोज लिया था। रंगों की छटा को देख कर कहते थे —

“अरे यहां प्रसाद जी होते (मतलब जयशंकर प्रसाद) तो दसियों 'कामायनियां' लिख देते। यहां निराला होते तो न जाने कितनी 'संध्या सुंदरियों' की रचना हो जाती।”

बबलू की यह अभिव्यक्ति मुझे बहुत पसंद आई। निश्चित रूप से शहर के इतने अंदर प्रकृति का ऐसा आक्रामक रूप कहां देखने को मिलता है! पेड़ों के रंग काले, ऊदे, नीले, कलई, गहरे हरे, पीले, नारंगी, कासनी, सुर्ख, गुलाबी हो जाते हैं। अक्सर एक ही पेड़ की पत्तियां नीचे की डालों में ऊदी दिखाई देती हैं और ऊपरी हिस्से में लाल। कुछ पेड़ों में तो एक ही पत्ती में तीन-तीन, चार-चार तरह के रंग आपस में मिलते दिखाई देते हैं। कभी तो एक पेड़ में हवा के रुख की तरफ एक रंग दिखाई पड़ता है और उसके विपरीत कोई और रंग। फूल आम तौर पर नहीं रहते लेकिन पत्तियां फूलों से ज्यादा खूबसूरत हो जाती हैं। पेड़ों और पत्तियों के इन बदलते हुए रंगों के अनुसार ही शायद जंगलों में ऐसे पेड़ लगाए गए हैं जो तरह-तरह से रंग बदलते हैं। बहार के समय के रंगों को अगर 'कन्वेंशनल' कहा जा सकता है तो पतझड़ के समय के रंग 'नॉन कन्वेंशनल' होते हैं। ऐसे रंग जो शायद कलाकारों की कल्पना में होते हैं तो होते हैं, और कहीं नहीं देखे जा सकते। जंगल के इन रंगों में पीला रंग ज्यादा नुमाया होता है। खास तौर पर जब तुम जंगल की पगडंडियों पर चलते हो तो दूर तक पीले पत्ते बिछे दिखाई

देते हैं। पीले पत्ते वाले पेड़ों के जंगल के नीचे धूप इस तरह आती है कि पीले पत्ते कुछ नारंगी हो जाते हैं। चमकने लगते हैं और धूप की आड़ी-तिरछी किरणें पत्तों के झुरमुट को चीरती नीचे तक आ जाती हैं। तब लगता है कि तुम किसी रहस्यमयी पीली गुफा में चले जा रहे हो। पतझड़ के मौसम में इस तरह के अनेकों चमत्कार होते हैं। जैसे जंगल में आप घूम रहे हैं—पेड़ों के पत्तों का रंग गहरा हरा और कल्यई है, अचानक किसी मोड़ पर एक ऐसा पेड़ मिल जाता है जिसके पत्तों का रंग बिल्कुल सुर्ख है—बिल्कुल आतशी सुर्ख।

जहां तक शहर का सवाल है, तुम खुद देख चुके हो, लेकिन मेरी आंखों से नहीं देखा। लगभग तीन साल तक इस शहर में इसी दौरान लंदन, पेरिस, विएना, वगैरा घूमने और देखने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि अगर यूरोप में शहर हैं तो बुदापेष्ट और प्राग। प्राग देखने से पहले शोरका से बात हुई तो उसने कहा था, “प्राग जरूर आओ, ये शहर नहीं है, जादू है, जादू।” प्राग जादूगर का बसाया नगर है तो बुदापेष्ट प्रकृति, यानी सबसे बड़े जादूगर ने बसाया है।

दुनिया के दसियों शहरों के बीच से नदियां बहती हैं लेकिन बुदापेष्ट के बीच बहने वाली दूना नदी की बात ही कुछ और है, जैसे—

*अगरचे शैख ने दाढ़ी बढ़ाई सन की-सी
मगर वो बात कहाँ मालवी मदन की-सी।*

दूना नदी शहर का एक ऐसा हिस्सा बन गई है कि वह शहर में आपके साथ-साथ रहती है। उसके एक तरफ ऊंचे हरे पहाड़ों के दरमियान से झांकते मकान दिखाई देते हैं तो दूसरी तरफ मैदान में बसा हुआ शहर पैशत है। कोई सौ साल से अधिक पहले दूना नदी के दो किनारों पर बसे ये शहर—यानी पहाड़ों पर बसा बुदा और मैदानी इलाके में बसा पैशत दो शहर—थे लेकिन 1872 में इन दो शहरों की शादी हो गई थी और बुदापेष्ट का जन्म हुआ था। लेकिन अब तक नदी के किनारे पहाड़ों पर बसे शहर को बुदा और दूसरी ओर के शहर को पैशत कहते हैं। बीच से दूना नदी बल खाती हुई निकल गई है। उसके दोनों तरफ दो-दो सड़कें और ड्राम लाइनें हैं। दूना इतनी पास लगती है कि तुम आसानी से झुककर उसके कान में कुछ कह सकते हो।

दूना मुझे अजीब रहस्यमयी-सी नदी लगती है। इतने रंग बदलती है कि हैरानी होती है कभी एकदम नीली हो जाती है कभी मटमैली-सी। कभी कुछ लाल-सी और कभी सफेद। कभी शांत, थकी-सी दिखाई देती है तो कभी चंचल और बेचैन। रात में उसके दोनों किनारे पर लगी रोशनियों और रोशन इमारतों की प्रतिछाया दूना में इस तरह दिखाई देती है जैसे दूना के अंदर भी एक शहर बसा हो। दिन में भी भव्य इमारतें दूना के अंदर से झांकती दिखाई देती हैं।

हंगेरियन लोकगीतों में दूना का अपना महत्व है। जो गीत मैंने सुने हैं उनमें कहीं वह निर्मम ठंडी हवाओं का स्रोत है तो कहीं प्रेमिका कहती है कि उसका प्रेमी छलांग मारकर दूना पार कर लेता है और उसके पास आता है लेकिन आजकल तो दूना पर सात पुल हैं। जैसा कि तुमने देखा है, ये पुल लंदन पर बने पुलों जैसे निम्न कोटि के नहीं हैं। लंदन के सिर्फ एक पुल ‘टॉवर ब्रिज’ को छोड़कर बाकी तो लगता है, भारतीय इंजीनियरों ने बनाए हैं। बुदापेष्ट में दूना पर बने सातों पुलों का अपना-अपना चरित्र है। उन पर हंगेरियन कवियों की कविताएं हैं और वे पुल शहर और लोगों की जिंदगी का अहम हिस्सा हैं। ‘चेन ब्रिज’ जिस पर रात में रोशनियां होती

हैं, उसके बारे में यहां एक रोचक किस्सा सुनाया जाता है। सुनो! लेकिन सुनने से पहले यह बता दूं या शायद तुमने देखा हो, पुल के दोनों तरफ दो-दो पत्थर के शेर अपने मुंह खोले बैठे हैं। पुलों के शुरू में इस तरह के पत्थर के शेर खड़े करना शायद पुरानी यूरोपीय परंपरा है क्योंकि भारत में भी मैंने कुछ पुराने पुलों में ऐसे शेर देखे हैं। खैर जनाब, तो अब सुनिए किस्सा!

कहते हैं कि जिस आर्कीटेक्ट-इंजीनियर ने यह पुल डिजाइन किया था उसका दावा था कि पुल का डिजाइन आदि इतना ‘परफैक्ट’ है कि कोई उसमें किसी तरह का खोट नहीं निकाल सकता। यानी आर्कीटेक्ट महोदय अपनी पीठ बार-बार ठोक रहे थे और फूलकर इतने कुप्पा हो गए थे कि बस एक छोटी-सी पिन की जरूरत थी उनकी हवा निकालने के लिए। यह काम किया एक बच्चे ने। वह अपनी मां की उंगली पकड़े पुल पार कर रहा था। उसने मुंह खोले, दहाड़ते हुए शेर को देखा और मां से कहा—“देखो-देखो अम्मा, शेर के मुंह में तो जवान नहीं है, कहते हैं, बच्चे द्वारा यह सामान्य गलती निकाले जाने पर आर्कीटेक्ट महोदय ने पुल से कूदकर दूना में खुदकुशी कर ली थी।

वैसे दूना जानें भी खूब लेती है। हंगरी में आत्महत्या की दर काफी ऊंची है। क्यों है? यह तो कोई समाजशास्त्री ही बता सकता है जिनकी यहां कमी नहीं है लेकिन दुर्भाग्य से मैं नहीं हूं। तो खैर, पुलों पर से दूना में कूदकर जान देना यहां खुदकुशी करने का प्रचलित तरीका है। दूना पर बने एक पुल ‘मारग्रेट पुल’ पर हंगेरियन कवि यानोंश अरन्य (1817-1882) की प्रसिद्ध कविता ‘पुल का उद्घाटन’ का यही विषय है। जिन लोगों ने दूना में डूबकर आत्महत्याएं कर ली थीं वे पुल पर वापस आ जाते हैं।

कभी-कभी आत्महत्या करने वाले तमाशा भी कर देते हैं। एक अन्य पुल जिसे ‘फ्रीडम ब्रिज’ कहते हैं, उसके ऊपर आसानी से चढ़ा जा सकता है। कुछ आत्महत्या करने वाले ऊपर चढ़ जाते हैं। ऊपर पहुंचकर हिम्मत छूट जाती है। न तो कूदकर आत्महत्या कर पाते हैं और न उतर पाते हैं। सिर्फ चीखने लगते हैं। तब फायर ब्रिगेड आती है और अच्छा-खासा तमाशा हो जाता है। मजेदार बात यह है कि यहां के कानून में आत्महत्या जुर्म नहीं है।

खैर, तो बात हो रही थी दूना की। अगर मैं कवि होता, जैसे कि तुम हो, तो कह सकता था कि दूना शहर की प्रेमिका है जो उसकी गोद में इठलाती रहती है, मचलती रहती है, कभी रूठती और मनती है और प्रेमी उसे बहलाता रहता है। कभी प्रेमिका उसे सहलाती है और शहर उसकी आंखों में अपनी तस्वीर देखता है।

लेकिन मैं यह सब नहीं लिख सकता, पर ‘दूना प्रेमिका और शहर प्रेमी’ पर याद आया कि दिल्ली में किसी ने मुझसे पूछा था कि तुम्हें बुदापेष्ट के सामाजिक जीवन में या लोगों के व्यवहार में क्या ऐसा लगा जो पसंद आया। पसंद तो पता नहीं क्या-क्या आया लेकिन मैंने बताया कि मुझे सबसे ज्यादा पसंद आया कि सार्वजनिक स्थानों, बसों, ट्रामों, मेट्रो और ट्रालियों वगैरा में जब प्रेमी और प्रेमिकाएं साथ-साथ जाते दिखाई देते हैं तो आमतौर से प्रेमिकाएं अपने प्रेमियों की अतिरिक्त चिंता करती या प्रेम जताती दिखाई पड़ती हैं।

मान लो कि एक लड़का और लड़की बस में साथ बैठे हैं तो तुम देखोगे की लड़की लड़के की तरफ प्यार से देख रही है, चूम रही है, उसके बालों पर हाथ फेर रही है, उसके कपड़े ठीक कर रही है और लड़का बाहर देख

रहा है। हमारे यहां इसका विल्कुल उल्टा है। कारण दो समाजों के बीच जो अंतर है, वही है।

हंगेरियन लड़कियां कितनी सुंदर होती हैं, तुम देख चुके हो। तुमने कहा भी था कि पश्चिमी यूरोप में लड़कियां आमतौर पर 'अनएप्रोचेबुल' लगती हैं जबकि हंगेरियन लड़कियों को देखकर ऐसा नहीं लगता। हंगेरियन लड़कियों की सुंदरता का राज मुझे यह बताया गया कि हंगेरियन लोग मूलतः एशियाई हैं। दसवीं शताब्दी में ये लोग मध्य एशिया में कहीं से यहां आए थे। बर्बर और घुमक्कड़ किस्म के लोग थे। एक जमाना था कि पश्चिमी यूरोप के चर्चों में ये प्रार्थनाएं होती थीं कि ईश्वर, तू हमें हंगेरियन (हून) लोगों के तीरों से बचा। वह जमाना बीत गया। ये सब अपने बादशाह इश्तवान (970-1038) के ईसाई होने के बाद ईसाई हो गए। फिर यह देश तुर्कों के अधिकार में आ गया। फिर हब्सबर्ग साम्राज्य का हिस्सा बन गया। तो कहने का मतलब यह है कि एशियाई और यूरोपीय सम्मिश्रण हंगेरियन जाति की विशेषता बन गया। यह तो सब ही जानते हैं कि जब दो रंग मिलते हैं तभी अच्छा रंग बनता है। यही सम्मिश्रण इनके व्यवहार और जीवन में भी दिखाई देता है। शादी करना, घर बसाना, बच्चे पैदा करना आधुनिक से आधुनिक लड़की का स्वप्न होता है। इसके साथ-साथ पश्चिमी संस्कृति की उन्मुक्तता भी काफी है लेकिन पारिवारिक रिश्ते पश्चिमी यूरोप और अमेरिका के मुकाबले यहां ज्यादा महत्वपूर्ण हैं।

लेकिन प्यारे, हंगेरियन लड़कियों या औरतों की जिंदगी बाहर से देखने में जितनी मुक्त और आकर्षक दिखाई देती है उतनी ही नहीं। यहां लोग कहते हैं, हंगेरियन औरत का जीवन युवावस्था में प्रेम (आमतौर से कई) फिर शादी, एक या दो बच्चे और फिर तलाक और फिर पूरा एकाकी जीवन। यानी उम्र बढ़ने के कारण प्रेमी भी नहीं मिल पाता। पति तो पहले ही अलग हो चुके हैं, बच्चे भी अपना-अपना रास्ता नापते हैं, अब बचती है ढलती उम्र और अकेलापन। एक मित्र ने हंगेरियन औरतों पर एक लतीफा सुनाया। अगर तुम अट्टारह-बीस साल की लड़की से कहो कि उसके लायक तुम किसी लड़के को जानते हो तो पहला सवाल यह करेगी कि देखने में कैसा है? अगर तुम यही बात पच्चीस-तीस साल की लड़की से करो तो पूछेगी कि उसके पास पैसा कितना है और अगर यही तुम चालीस साल की औरत से कहोगे तो कहेंगी, कहां है?

यहां का समाज भी एक तरह से पुरुष प्रधान समाज है। अभी हाल में ही किसी हंगेरियन मित्र ने कहा कि उनके देश में हाल-फिलहाल एक महिला राजदूत बन गई है। फिर यह पूछा कि क्या भारत में औरतें इस तरह के पदों तक पहुंच पाती हैं?

खोजबीन करने तथा महिलाओं की सामाजिक स्थिति पर कुछ पढ़ने का बाद यह स्पष्ट हुआ कि महिलाओं को इस देश में आमतौर से महत्वपूर्ण प्रशासनिक पद आदि नहीं मिल पाते। उन्हें छोटे-मोटे काम ही दिए जाते हैं। घरेलू हिंसा—आकाशवाणी की भाषा में गृह-कलह—की घटनाएं भी घटती रहती हैं। औरतों और मर्दों के बीच फर्क को यहां का एक मुहावरा दिलचस्प तरीके से सामने लाता है। मुहावरा है—'शैतान से थोड़ा ही कम सही लेकिन है तो आदमी।' तो जनावे शैतान यहां भी दनदना रहे हैं। पिछली सरकार ने जनावे शैतान के काम को सरल और वैधानिक बना दिया है। वेश्यावृत्ति और समलैंगिक संबंध अब यहां कानूनी तौर पर अपराध नहीं हैं। सैक्स की दुकानों और टॉपलेस बारों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जा



रही है। रात में यहां का रेडलाइट एरिया नियनलाइटों से लिखे सैक्स और टॉपलेस के बोर्डों से जगमगाता रहता है। लेकिन अभी सैक्स यहां वैसा उद्योग नहीं बन सका है जैसा पेरिस में है।

बुदापेस्त एक माने में रात का शहर है। जब तुम आए थे तो सर्दियों की वजह से रातें ठंडी थीं। अगर गर्मियों में आओ तो देख सकते हो कि दूना के दोनों तरफ की इमारतें—खासतौर पर बुदा पहाड़ पर बने चर्च और महलों की जगमगाती छवि कुछ ऐसा आभास देती है जैसे काले आसमान में एक चमकता मध्ययुगीन शहर उड़ता चला जा रहा हो। 'चेन ब्रिज' को पूरी तरह रौशन कर दिया जाता है जो दूना नदी के गले में पड़े हीरों के हार जैसा लगता है। रात में अगर दूना नदी के किनारे वाले सबसे ऊंचे पहाड़ 'गैलियत हिल' पर चढ़कर देखो तो हवा में उड़ता रहस्यमय मध्यकालीन शहर और दूना के गले में पड़ा हार और अधिक स्पष्ट दिखाई देता है।

'गैलियत हिल' का भी एक दिलचस्प किस्सा है। जब हंगेरियन ईसाई नहीं थे तो बहुत से ईसाई प्रचारक यहां उनके धर्म परिवर्तन के लिए आया करते थे। उन्हीं में गैलियत (980-1046) नाम के एक इतालवी प्रचारक भी थे। वह आए और उन्होंने बताया कि उनका भगवान शक्तिमान है, आदि-आदि और फिर कहा कि हंगेरियन लोगों को चाहिए कि उनके भगवान को मानें। हंगेरियनों ने उनसे कहा कि 'यदि तुम्हारा भगवान सब कुछ कर सकता है तो उसे मान लेंगे। लेकिन तुम्हें इसका प्रमाण देना होगा। हम लोग तुम्हें लकड़ी के एक बड़े से ड्रम में बंद करके पहाड़ के ऊपर से लुढ़काएंगे, तुम्हारा ईश्वर यदि सब कुछ कर सकता है तो तुम्हें बचा लेगा और हम सब ईसाई हो जाएंगे। यदि तुम मर गए तो हम ईसाई नहीं होंगे, अब पता नहीं संत गैलियत इस परीक्षा के लिए तैयार हुए या नहीं। लेकिन उस जमाने के बर्बर हंगेरियन लोगों ने जैसा कहा था वैसा ही किया। परिणामस्वरूप संत गैलियत की मृत्यु हो गई। हंगेरियन ईसाई नहीं हुए लेकिन सम्राट के होने के बाद जब पूरा देश ईसाई हो गया तो उस पहाड़ का नाम 'गैलियत पहाड़' रख दिया गया जिस पर से संत को लुढ़काया गया था। आज उस पहाड़ पर उनकी एक विशाल प्रतिमा देखी जा सकती है जिस पर रात में रोशनी की जाती है और शहर के एक बड़े हिस्से से आप उसे देख सकते हैं।

“उधार के इश्क से शायरी नहीं होती”

प्रसिद्ध उर्दू कवि अहमद फराज से एक मुलाकात

अहमद फराज पिछले दिनों ‘पाकिस्तान बुक फाउंडेशन’ के अध्यक्ष की हैसियत से नई दिल्ली में आयोजित बारहवें विश्व पुस्तक मेले का उद्घाटन करने के लिए भारत आए थे। हमारी सहयोगी पत्रिका आजकल (उर्दू) ने उनसे मुलाकात की। प्रस्तुत हैं उसके कुछ अंश :

शायरी खून-ए-जिगर जलाने का नाम है। एक अच्छी गज़ल कहने के बाद महसूस होता है कि सारे बदन का खून उसके साथ निचुड़ गया। तब कहीं गज़ल कहने की ताजगी महसूस होती है और आहिस्ता-आहिस्ता उसका नशा चढ़ता है। सिर्फ नक्काशी से शायरी नहीं हो सकती। उसके लिए ज्ञान, समझ, बुद्धि, सामयिक विचार और परंपराओं की गहरी जानकारी भी जरूरी है। यह सिर्फ शेर कह देने का नाम नहीं है और न ही उधार के इश्क से शायरी हो सकती है।

अहमद फराज ने वर्तमान काव्य रचना परिदृश्य की चर्चा करते हुए कहा, “अब हर जगह सुविधापरस्ती नजर आ रही है। शायरी के लिए जो जुनून पहले नजर आता था वह अब गायब है बल्कि एक तरह से जड़ता की स्थिति बनी हुई है। मौजूदा दौर में उर्दू की काव्यधारा सिमटकर सिर्फ गज़ल और नज़्म तक ही सीमित रह गई है। ‘कसीदा’, ‘मर्सिया’, ‘रुवाई’, ‘मसनवी’, ‘शहरे आशोब’ सब बीते दिनों की बातें हो गई हैं। हर दौर की अपनी प्राथमिकताएं होती हैं। गज़ल की लोकप्रियता की वजह यह है कि शायरी का यह रूप मुश्किल भी है और आसान भी। मुश्किल इसलिए कि परंपरा का निर्वाह जरूरी है और आसान इसलिए कि बने-बनाए सांचे हैं काफ़िए और रदीफ हैं, बहुत सारे विषय हैं और तबीयत जरा भी तरंग में हो तो आसानी से गज़ल कही जा सकती है। हमारे यहां आसानी की वजह से भी शायरी के कम रूपों का प्रयोग होता है। वैसे आधुनिक विधा और टेक्नोलाजी से शायरी को इसलिए खतरा नहीं है क्योंकि यह तो अमर है। आरंभ से अंत तक शायर के वगैर दुनिया की खूबसूरती, इंसानियत और कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति संभव नहीं क्योंकि यही अभिव्यक्ति का प्राकृतिक साधन है। इसके लिए किसी रंग, ब्रुश या किसी और चीज की जरूरत नहीं। यह अलग बात है कि शायरी के स्वरूप में भी प्रयोग होते रहते हैं। शायरी पैगंबरी भी है, लेकिन सिर्फ उस वक्त जब एक सूझबूझ रखने वाला इंसान अपने आसपास

का भरपूर दर्द रखता हो और तभी वह शायरी को ज़िंदगी से और ज़िंदगी को शायरी से तब्दील कर देता है। ऐसी ही शायरी ज़िंदगी का प्रतीक होती है।”

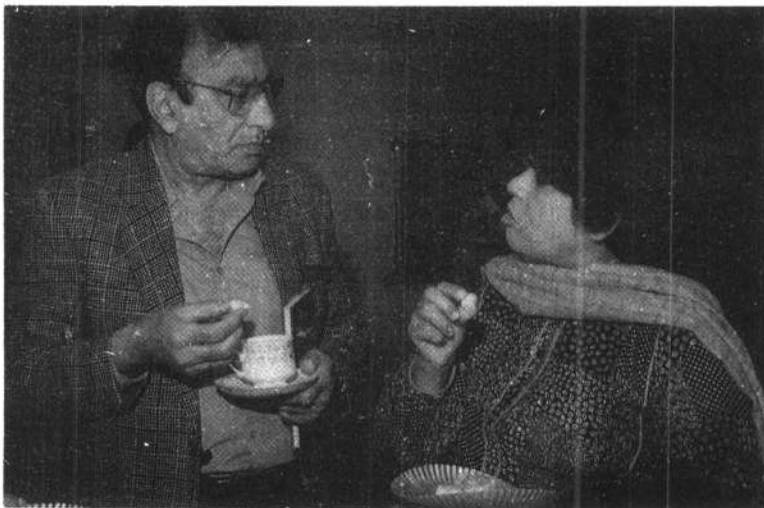
अहमद फराज का फैज अजमद फैज के साथ विशेष और अंतरंग संबंध रहा है। इस अंतरंगता ने उनकी शायरी, काव्य, विचारधारा, रचना और बनाव-संवार पर क्या प्रभाव डाले :

“मैं फैज के करोड़ों प्रशंसकों में से एक हूं। मुझे फैज के साथ रहने का मौका मिला। मैं और फैज देश निकाला के दौर में लंदन में एक ही घर में रहे। इस कारण उन्हें देखने-सुनने और समझने का मौका कुछ ज्यादा ही मिला। साहित्य से राजनीति तक विभिन्न विषयों पर बातचीत होती रही। कुछ यह भी कि उनकी और मेरी सोच में एकरूपता ज्यादा थी इस कारण अधिकतर विषयों में समानता आ गई। क्योंकि जिस वातावरण में वह सांस ले रहे थे, उसके गिर्द खूशबू या महक को हम दोनों ने महसूस किया, उसी में सांस ली और फिर इस बात की कोशिश की कि इन प्रभावों को शायरी के द्वारा पेश कर सकें। फैज बहुत बड़े कलाकार थे। उनकी शायरी मेरी शायरी से बहुत ऊंची है। मैंने जरूर उनसे प्रभाव ग्रहण किया होगा। जो चीज मेरे दिल में उतर जाती है उसे मैं लिख लेता हूं। कभी वह किसी को पसंद आती है, कभी लोग उससे नाराज हो जाते हैं और उस देश में जहां कभी कैद, कभी क्षेत्रीयता की सजा और कभी देश निकाला मिला, उस देश के करोड़ों लोगों ने मुझे प्यार भी दिया। यह प्यार व मुहब्बत मुझे अपने देश में मिली और देश से बाहर भी। इसी प्यार की वजह से मैं आज आपके सामने हूं।”

विश्व पुस्तक मेले पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा : “मैं हमेशा

अक्षर या शब्द के हवाले से भारत आता रहा हूं। शब्द का संबंध सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है और सीमाएं शब्द, खूशबू या संगीत पर पाबंदी नहीं लगा सकतीं और वैचारिक पाबंदियों के दौर में भी फैज और अहमद नदीम कासमी को भारत में और इस्मत, कुरतुल-एन-हैदर, सरदार जाफरी और मजरूह को पाकिस्तान में पढ़ा जाता था क्योंकि बुनियादी रिश्ता अक्षर या शब्द का था।”

भारत और पाकिस्तान के बीच पुस्तक और पत्रिकाओं को लाने, ले जाने के सिलसिले



अहमद फराज और किश्वर नाहीद

में कोई खास प्रगति न होने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा : “बहुत-सी समस्याएं एक-दूसरे से जुड़ी होती हैं। लेकिन उनसे हटकर, ऊपर उठकर कवि और साहित्यकार अपने तौर पर आपसी संपर्क और वार्ता जारी रखे हुए हैं, फिर भी पाबंदियां कम करने के सिलसिले में राजनीतिक पहल ज्यादा जरूरी है। हालांकि उनसे शब्दों पर पाबंदी नहीं लगती, वे उड़कर हर स्थिति में वहां पहुंच जाते हैं जहां उन्हें सुनने और पढ़ने वाले और पसंद

करने वाले हों। जिन्हें किताबों की चाहत होती है, वे भी उन्हें किसी न किसी तरह हासिल कर लेते हैं।”

प्रस्तुत हैं उनकी तथा दूसरी जानी-मानी पाकिस्तानी कवयित्री किश्वर नाहीद की दो-दो ताजा रचनाएं जो उन्होंने विशेष तौर पर आजकल (उर्दू) के लिए लिखीं।

दो गुज़लें : अहमद फराज

एक

सिलसिले तोड़ गया वह सभी जाते-जाते
वरना इतने तो मरासिम¹ थे कि आते-जाते
शिकव-ए-जुल्मत-ए-शब² से तो कहीं बेहतर था
अपने हिस्से की कोई शमा जलाते जाते
कितना आसां था तेरे हिज़्र³ में मरना जीना⁴
फिर भी एक उम्र लगी जान से जाते-जाते
जश्न-ए-मकतल⁵ ही न बरपा हुआ वर्ना हम भी
पाबजोलां⁶ ही सही नाचते गाते जाते
उसकी वह जाने उसे पास-ए-वफा था कि न था
तुम फराज अपनी तरफ से तो निभाते जाते।

दो

इससे पहले कि बेवफा हो जाएं
क्यों न ए दोस्त हम जुदा हो जाएं
तू भी हीरे से बन गया पत्थर
हम भी कल जाने क्या से क्या हो जाएं
हम भी मजबूरियों का उम्र⁷ करें
और कहीं और मुब्तिला हो जाएं
इश्क भी खेल है नसीबों का
खाक हो जाएं कीमिया⁸ हो जाएं
बंदगी हमने छोड़ दी है फराज
क्या करें लोग जब खुदा हो जाएं।

1. संबंध, लगाव, 2. रात के अंधकार की शिकायत, 3. जुदाई, 4. महबूब, 5. कल्लगाह का जश्न, 6. बेड़ियों में बंधा पांव, 7. बहाना, 8. छिन्न-भिन्न।

दो नज़्में : किश्वर नाहीद

सफा पलटते हुए

एक उम्र के बाद
हमारी माएं और हमारे बाप
अलग-अलग सेहनों और अलग-अलग कमरों में
बिना किसी तलातुम¹ के मुंतकिल हो जावे थे
जिंदगी के जायके में कुछ और झलकने लगता था
कभी नमाजें कभी क्रास पजल
कभी अखबारों के नाम खतों का सिलसिला
अब डबल बेड वाले घरों में
उकताहटें टी.वी. सेट के सामने
हांफने लगती हैं
और बच्चे दूसरे टी.वी. पर
जिंदगी के गीत सुनकर कहकहे लगाते हैं।

धूप की वापसी का मंजर

एहतियात की दहलीज पर तुमने ताल्लुकात का दीया
रौशन किया था
तुम्हें तजस्सुस² था जिंदगी से भरपूर
औरत के तजुर्वे का
तुम्हें शौक था ख्वाबों को लफ्ज बनाने वाले
जादूगरों में बैठने का
तुम्हें तलाश थी उन चेहरों की
जिन्हें तस्वीरों में देखकर
सभी रिश्ते जोड़ लेते हैं।
तुम्हारी प्यास,
हर उस मर्द की प्यास की तरह थी
जो शौक और रिश्ते को अपनी तलब के लिए
हमनाम कर लेते हैं
एहतियात की दहलीज पर दीया रौशन करते हुए
तुमने इसमें जब्बे का तेल नहीं डाला था
मुहब्बत को यतीम बच्चे की तरह
जरा-सा दिलासा देकर छोड़ा नहीं जा सकता है।

1. हलचल, 2. खोज

अनुवाद : हामिद हुसैन

तीन कविताएं : राकेश रेणु

टेलीविजन स्क्रीन पर

समुद्र के भीतर अचानक
उग आता है एक पार्क
हरी घास और फूलों के साथ
गुफाएं और आकृतियां भी उग आती हैं
लड़कियां मछलियां बन जाती हैं
जो चमकती हैं तारों और बिजली के बल्बों की तरह
गुफाओं से निकलती हैं कुछ और आकृतियां
नाचने लगती हैं
उनके चेहरे पहचाने नहीं जाते
दिखाई नहीं देता शरीर
भगदड़ मच जाती है मछलियों में
कुछ उनमें से निगल ली जाती हैं —
अपने मत्स्य रूप में
कुछ यहां-वहां छिपने में हो जाती हैं कामयाब
कुछ अपना
चेहरा वैसा ही बना लेती हैं—प्रेतमय
और कूदने लगती हैं उनके बीच, उनके साथ
ऐसा बार-बार होता है रोज-रोज।

औरतें बताती हैं दुनिया का हाल
जवान हो रही लड़कियां
उतारती जाती हैं अपने सारे कपड़े
विज्ञापन में
साबुन धो डालता है उनके शरीर
इस दृश्य में हमारे समय के बच्चे
सीखते हैं
नहाने और स्वस्थ रहने की तहजीब
उनमें से कुछ परेड करती हैं मंच पर
नहाने के बाद
समझदार लोग इसे 'कैंटवाक्' कहते हैं
जो कपड़ों को देती है एक नई तहजीब
एक-एक कर बताया जाता है
सौंदर्य प्रतियोगिताओं के बारे में
कि समृद्ध परंपरा रही है भारत में
कि अकूत सौंदर्य से भरा-पड़ा है भारत देश
विश्व-विजय की जा सकती है जिनसे बार-बार
हम अपनी स्त्रियों को देखते हैं कुछ संकोच, कुछ हिकारत से
फिर देखते हैं टेलीविजन की ओर

हम कुछ सोचना चाहते हैं कुछ समझना लेकिन
उसका अवसर नहीं दिया जाता
हमें बताया जाता है आज कितने
विश्व-विजेताओं ने प्रवेश किया दुनिया के
सबसे संभावनाशील और उर्वर बाजार में
कितने तोरण-द्वार लगाए गए उनके लिए
कितने डालर लेकर आए वे अपने साथ
देश का बाजार-भाव कितना बढ़ेगा उससे
अचानक कुछ और स्त्रियां आ जाती हैं कूल्हे मटकती हुई
जो बताती हैं उनके
ब्रह्मजीत उत्पादों के बारे में
हमारी स्त्रियां भी बन सकती हैं विश्व-सुंदरियां जिनसे
और ऊपर उठाया जा सकता है इच्छाओं का स्तर
कि विश्व का सबसे बेहतर जीवन जिया जा सकता है
इनके जरिए
अंतराल में कुछ अन्य स्त्रियां दिखाई जाती हैं
माथे पर पानी से भरे मटके ढोती कुछ चापाकल चलाती
हमें बताया जाता है पचास-साला उपलब्धियों के बारे में
कि पानी मिल जाता है गांवों में अब
कुछ स्त्रियां सायास हंसती हैं कैमरे के सामने
जिनसे खुशहाली का बोध कराया जाता है
हम सोचना चाहते हैं कुछ दूसरी चीजें मसलन साफ हवा
तभी बहुत सारी चमचमाती कारें आ जाती हैं
चुंधियाती हुई हमारी आंखें
हम देखना चाहते हैं जो कुछ वहां नहीं होता
हम समझना चाहते हैं चीजें
गतिविधियां समझ नहीं पाते
(दोष हमारा है पूर्णतः)
हम अपने बच्चों की तरफ देखते हैं चुंधियाई आंखों से
वे अवाकू नजरें टिकाए होते हैं अपनी मांओं पर
उनकी माएं बदले में निर्मिमेष देखती हैं हमारा चेहरा
सब समझने की कोशिश करते हैं
सब चुप रहते हैं।

गिरगिट

मुहावरों में कई तरह से जाना जाता है इसे
परंपरा में यह भय उत्पन्न करता है
विज्ञान हालांकि अलग मत रखता है
परंपरा विज्ञान-विरोधी है
लेकिन यह अलग विषय है।

अनाज में यह धुन की तरह नहीं लगता
 चूहे की तरह नहीं कुतरता जरूरी कागजात
 इसकी मौजूदगी में छुपा नहीं होता प्लेग का भय
 कीड़ों-फतियों से सफाई करता घर की
 बन न सका पूज्य यह लघु-उदर जीव
 किसी लंबोदर का कृपा-पात्र नहीं परंपरा में
 जो तुच्छ है, लघु है; हेय है परंपरा में
 लेकिन यह अलग विषय है।

परंपरा से सीखा हमने
 कि जहर है इसका त्यक्त मल-जल गेहूं के दाने जितना
 मनुष्य के गू-मूत के बारे में
 क्या राय रखती है परंपरा?
 समाज के सबसे उपेक्षित लोगों की जमात-सा है यह
 ठंड में ठिठुरता, शीतलहर का पेट भरता
 मनुष्य का बेहतर मित्र हो सकता है निर्वाक्
 लेकिन मनुष्य में आस्था कैसे भरे यह
 परंपरा से कैसे लड़े यह?

कभी मजबूत होती रही होगी आस्था परंपरा से
 विश्वास तोड़ती है अब यह
 लेकिन यह अलग विषय है।

कब्र

कोई आए नहीं यहां
 नींद में, आराम में हमारे विघ्न होगा
 बोलो नहीं कोई
 कि मृत बोलते नहीं कभी
 चलो नहीं कोई
 कि चलने की जगह नहीं
 हंसो न कोई
 कि परिजन रो रहे हैं तुम्हारे
 खाए नहीं कोई
 कि अन्न-भंडार खत्म हो जाने का खतरा है

घर नहीं, निषेध है यह
 या कि कहो कब्र!

चिड़िया के बच्चे

मानिक बछावत

चिड़िया ने
 उस बड़े-घने पेड़ पर
 घोंसला बनाया है।
 उसने अपने अंडों को उसमें
 सुरक्षित रखा है
 वह इंतजार कर रही है
 उस समय का
 जब अंडे फोड़कर
 उसमें से वे नवजात आएंगे
 जिनको वह अपने गरम शरीर से
 चिपकाएगी
 बड़े जतन से उन्हें इस दुनिया में लाएगी।
 बाहरी आक्रामकों से बचाएगी।
 बच्चे निकलेंगे
 वह दाना जुटाएगी
 उन्हें खिलाएगी, पोसेगी, बड़ा करेगी।
 उसके मन में
 सपने हैं। बातें हैं। आशंकाएं हैं।
 भय है। वह ऊब
 जब-तब नहीं उड़ती-फिरती
 जमकर घोंसले में
 दिन-रात बैठती है
 इंतजार करती है
 उस दिन का
 जब अंडे पककर फूटेंगे
 बच्चे निकलेंगे
 वह मां का धर्म निबाहेगी।

एक दिन अंडे फूटते हैं
 बच्चे बाहर निकलते हैं
 वे उड़ना सीखते हैं और
 फिर उड़ जाते हैं
 चिड़िया यह देखकर
 खुश होती है कि
 उसके बच्चे उसकी तरह
 आश्वस्त होकर
 उड़ने लगे हैं!

दो कविताएं : महिंदर कौर गिल

राह

वह सड़क
में जिस पर चल रही हूं
चौराहे पर जाकर
खत्म हो जाती है

सड़क के पास
दिशा तो है
मंजिल नहीं है

चौराहे पर पहुंचने वाली
हर सड़क
गुमशुदा स्वयं को
महसूस करती है

और मैं —
इस चौराहे की तरह
ऐसे मुकाम पर
खड़ी हूं
जहां से
चारों ओर
राहें जाती हैं।
मगर
मेरी राह...?
जिधर भी चली जाऊं
मेरी राह हो सकती है!

मुझे इस सड़क से
वह राह नहीं मिलती
जिस पर मैं जाना चाहती हूं।

क्या यह सही नहीं —
जीवन एक खेल है
औरत इस खेल में एक खिलौना है
खिलौने की कभी किसी ने मर्जी पूछी है?
खिलौने के अंगों को
प्यार से सहलाया जाता है

चतुर खिलाड़ी खेल खत्म होने तक
जी भरकर प्रशंसा करता है
और यह भी जानता है —
कि कितना झटकने के बाद
खिलौना चूंचूँ करना बंद कर देता है

औरत की हैसियत प्लास्टिक के खिलौने से ज्यादा नहीं
जो गिरता-पड़ता रगड़-खरोंच सह लेता है
टूटने के बाद भी
जीवन-नदिया में तैरता रहता है
सिर पर धूप और वर्षा सहन करता है
भयानक मगरमच्छ से टकराता है
नाग देवता की परिक्रमा करता है
और भीगे टुकड़े की तरह डूबता-तैरता ही रहता है।

रेखांकन : पंकज झा



स्वीकार के बाद

सरफ ने कहा —

आभूषणों के व्याकरण में

‘खरा’ शब्द फालतू है —

कुछ गढ़ने के लिए थोड़ी-सी मिलावट तो करनी ही पड़ती है।

हमने भी सोचा

कि ‘खरा’ सोना हमें क्या करना है?

हमें तो चाहिए एक रचना

एक आभूषण,

और हमने सोने में तांबा स्वीकार कर लिया

और स्वीकारते ही गए

लेकिन जैसे-जैसे वक्त गुजरता गया सोने के बीच में से तांबा
झांकता रहा

हम सोचते रहे — ‘कोई बात नहीं, है तो आभूषण’

और फिर धीरे-धीरे सोना घिसता रहा...

और अब हमारे पास रह गया सिर्फ तांबा

सगफ कहता है —

सोने के बाजार में तांबे की क्या कीमत!

अब हम कभी इस तांबे को

आभूषण समझकर गले से लगा लेते हैं

और कभी इसमें से सोना ढूँढ़ते हुए

खुद घिसने लगते हैं।

जब भी मिलते हो तुम

जब भी मिलते हो तुम

कब्जा लेते हो यूँ

मुझे सारे का सारा

बेपहचान-सी हो जाती हूँ मैं

खुद अपने ही आप से

क्यों होता है ऐसा।

यह ब्रह्मांड सारा

मुट्ठी में होता सिमटा अगर

सरकता धीरे-धीरे

अंबर बन फैलते तुम

और कठपुतली-सी डोलती

धरती बन मैं

सिर्फ हां..हूँ...ही मुंह से बोलती!

वक्त के शिकंजे में जकड़े

मोहरे शतरंज के

चाल भी नहीं हाथ में हमारे

जानते हुए भी

नित नया भ्रम पालते कि

आने वाला कल

अवश्य पूरा उतरेगा हमारे ख्वाबों ख्वालों के!

खुशियों का समुद्र

सहलाएगा खुद

हमारे तलवों को

और यों झरते वर्तमान के पल

सैकड़ों टुकड़े कर जाते।

जब भी मिलते हो तुम

इन टुकड़ों को जोड़कर

फिर से पूछती हूँ

हर बार मैं

खुद अपने ही आप से!

वृक्ष

कुलदीप कल्पना

यह कैसा जंगल है जहां वृक्ष चलते हैं

नंगी धूप में अपने लिए छाया ढूंढ़ते हैं

चांदनी रातों में उठ-उठकर आहें भरते हैं

काली रात में अपना-अपना नाम खोजते हैं

यह कैसी वस्ती है जहां सड़कें खड़ी हैं

वृक्ष दौड़ते हैं जैसे हवाएं पीछा कर रही हों

कल के सत्य को आज आईना झूठ कहता है

उम्रों के वायदे, फिर भी झूठे बहकावे

यह कैसा मरुस्थल है जहां फूल खिलते हैं

आग सेहरे के गीतों की वर्षा करती है

जमीन से ठंडी हवा जब बस्ती को जाती है
बस्ती के लोगों की तपती रूह ठिठुरती है

यह कैसी धरती है जिस पर मैं चलती हूँ
पैर जमीन पर और आग आसमान में, जलती हुई
रोज लुटा देती हूँ मैं उम्मीद का सोना
रोज ही लौट आती हूँ मैं हाथ मलती हुई

मुझे मेरी ही छाया न मिली जब वृक्ष बनी मैं
किसी ने छाया देनी चाही जब मैं दौड़ रही थी
साथ निभाता है कौन जब हर कोई हो अकेला
मैं यों ही राहों के किनारे मोड़ रही हूँ!

गीत

मनजीत इंदिरा

न खिड़की, न दरवाजा, न कोई मुंडेर
दिया जलाकर रखेंगे कहाँ
मेरे सिर पर छत, मेरे कंधों पर दीवारें
ये छतें, ये दीवारें भी रखेंगे कहाँ!

वृक्षों को अपने बाहुपाश में बांधकर
वृक्षों की छाया तले चैन की नींद सोए
न वृक्ष है, न छाया, न दिलबर की फैंती बाँहें
टूट चुकी हैं बाँहें या किसी स्वप्न से हैं जागे

न बाबुल का आंगन न अम्मी की लोरी
सखियों का संग छूटे एक मुद्दत हो ली
न कदमों की आहट न पायल की रुनझुन
टूट गए घूंघरू पायल खामोश हो ली

हो गई प्रीत बेवा सहारा न कोई
कर लो बंद दरवाजे अपनों के पत्र
नैनों के दीपक जलाकर कौन देखे?
भए हैं हम उदास, या विरह से कुंठित हैं

खिड़की न दरवाजा, न कोई मुंडेर
दिया जलाकर रखेंगे कहाँ
मेरे सिर पर छत, मेरे कंधे पर दीवारें
ये छतें, ये दीवारें भी रखेंगे कहाँ!

मलयालम कविता

आषाढ़ मेघ

ओ.एन.वी. कुरूप

ऊंचाई पर उड़ रहे
इस लौह पक्षी के उदर से चिपके
देख रहा हूँ
बहुत नीचे
अपनी ध्यानभूमि—हिमालय।
दूर
गंगातट का समतल
अब भी लेटा हुआ होगा
सूर्य के इंतजार में।
पर यहां इस हिम मंदिर में
किसने यह सूर्यदीप जला रखा है?
उस अरुण प्रकाश के स्पर्श से
धवल गिरि का गाल
रक्ताभ हो गया है
चोटियाँ
कुंकुम का अंबार बन गई हैं।
गंगा के संगीत का स्रोत
एक सुस्वर के रूप में
कहां से फूट निकलता है?
अपर्णा का पर्णकुटीर कहां है?
धूर्जटि का वह नृत्यमंडप कहां
जहां से डमरू की ध्वनि गूंज उठती है?
सब कुछ मुझे दिखाई दे रहा है।
पर जी भर देख पाने के पहले ही
लौह पक्षी उड़ता चला आया
बहुत दूर
जैसे
और कोई आषाढ़-मेघ
प्रेम का और कोई संदेश लिए
उड़ रहा है!
और मैं उसके अंदर
सिमटती
सिसकती
एक बूंद!

अनुवाद : मनजीत कौर भाटिया

अनुवाद : के.जी. बालकृष्ण पिल्लै

पात्रों की तलाश में भटकते चित्र

गौरीशंकर रैणा

वर्तमान में छोटे पर्दे पर दिखाए जाने वाले धारावाहिकों द्वारा हम जिन नाटकीय स्थितियों से परिचित हो रहे हैं, उनमें अधिकांश घटनाएं अनियमित और पात्र असंगत अथवा यांत्रिक दिखते हैं जिनका यथार्थ जगत से सारूप्य कदाचित ही होता हो। इन शृंखलाओं में स्थितियों की परिकल्पना और उनके निर्वाह से जो प्रारूप सामने आते हैं उनमें अधिकतर टाइप-चरित्र ही दिखते हैं। पारंपरिक नाटकों की भांति चरित्रों का सम्यक विकास और उनके सिद्धांतों का मानवीय भूमि पर अवतरण न हो पाना तो व्यावसायिक टेलीविजन-तंत्र पर स्वाभाविक है, पर सच्ची नाटकीय शैली का अभाव क्यों? वस्तुतः व्यावसायिक और रसात्मक मूल्यों की टक्कर के कारण ही ऐसा है। इसीलिए अविश्वसनीय कथानकों के कृत्रिम परिवेश में पनप रहे वौने पात्रों का वहन दर्शक को बोझिल बना देता है। जबकि वही पात्र प्रारंभ में स्वप्निल जगत में ले जाकर अभीष्ट आनंद प्रदान कराते हैं।

टेलीविजन आलोचक एडवर्ड कारपेंटर का मानना है कि टेलीविजन की चित्रमयी शैली इतनी प्रभावशाली है कि मनुष्य की अंतरात्मा तक स्वप्नमय हो जाती है और व्यक्ति इस स्वप्न-जगत में खोकर रह जाता है। टेलीविजन स्वप्निल क्यों? क्योंकि स्वप्नों की तरह यह भी चित्रमय है। स्वप्नों में विचरते समय व्यक्ति कई अनुभव प्राप्त करता है। कभी सुखद, कभी दुखद और कभी विचित्र। परंतु अनुभूति चित्रमय होती है। स्वप्न के तिलिस्म से गुजरते समय व्यक्ति यदि कुछ सोच भी ले तो उसके विचार असंबद्ध दृश्यों और उभरते चित्रों में उलझकर रह जाते हैं। और फिर यह उसे मायावती जगत में जाने का अवसर भी प्रदान करता है। जहां वास्तविकता से पलायन के उपरांत स्वतः ही मुक्ति का बोध होने लगता है। जीवन के कड़वे सच कचोटते नहीं। कुछ देर को राहत मिलती है और अपेक्षित इच्छाओं की पूर्ति की संतुष्टि भी प्राप्त होती है। विषयात्मक धरातल पर यह स्वप्न अनियत और अनुपयुक्त लगते हैं। ठीक किसी फेंटेसी की तरह जहां अति जटिल विषयों और सामंजस्य भरे दृश्यों का कोई स्थान नहीं। लेकिन स्मृतिपट पर ज्यादा समय तक टिकते नहीं और प्रायः ऐसे स्वप्न जो कर्कश हों, जिनको देखते समय अनुताप हुआ हो, व्यक्ति उन्हें चेतन-जगत से तीव्रता से निष्कासित करता है। वह उस अनुभव को दोहराना नहीं चाहता। इस प्रकार अधिकतर स्वप्न विस्मृति में

खो जाते हैं। टेलीविजन में भी धारण-शक्ति का अभाव है। पर मायावी जकड़न अधिक प्रबल है। परंतु जब स्वप्नों की तिलिस्मी शक्ति बिखरने लगती है तब आकर्षण भी समाप्त होने लगता है। तब 'चंद्रकांता' जैसे लोकप्रिय नाट्य-शृंखलाओं के अलक्षित पात्र, अति अलंकृत सेट व बिखरा हुआ कथानक बोझिल लगने लगता है और कृति की साहित्यिक उपलब्धि धूमिल होने लगती है।

वस्तुतः टेलीविजन-नाटक की शक्ति असहज आकृतियों के बजाय चरित्रांकन में निहित है। इसके द्वारा मानव - अस्तित्व की, उसके समाज की और उसके पूरे परिवेश की ओर संकेत हो पाता है। दर्शक यदि सिनेमाघर में जाता है, तो यह मानकर चलता है कि सामने चरित्र, जीवन का जो रूप लेकर आएंगे वह काल्पनिक होगा और उस समय वह अपनी वैयक्तिकता का परित्याग किए कल्पना जगत में रहा होता है। जबकि वैयक्तिकता की इस भावना का परित्याग वह घर बैठे-बैठे नहीं कर पाता है। इसी कारण यहां स्वप्निल घटनाओं के बजाय मानवीय तत्वों का प्रेषण करती हुई सृजनात्मक-कृति उसे कहीं ज्यादा प्रभावित कर पाती है। ऐसी अवस्था में दर्शक अपने मूल्यों और रीतियों की पुनर्व्याख्या करने को प्रेरित होता है। तब वह नैतिक मानों की अवहेलना करने वाले अति महत्वाकांक्षी, फूहड़ अथवा सामाजिक परिस्थितियों से जूझते पात्रों में फर्क महसूस करने लगता है। तब 'विरासत' में शीतल या उसके पिता का चरित्र दूसरे पात्रों से कहीं ज्यादा प्रभावी और सजीव लगने लगता है।

परंतु हाल के वर्षों में नाटकीय और गैर-नाटकीय प्रसारणों में प्रेक्षक की भावनाओं पर सनसनीदार प्रहार की प्रवृत्ति कुछ ज्यादा ही बढ़ी है। कदाचित इसे दर्शक-वर्ग ने नकारा भी नहीं। क्योंकि आम प्रेक्षक को उत्तेजनापूर्ण दृश्यों से जितना आनंद मिलता है। शायद ही उतना विचारपूर्ण संयोजन से मिलता हो। पर्दे पर साकार होते सपने, अच्छाई की जीत और बुराई की हार का नजारा या ऐसे ही अन्य मेलोड्रामेटिक दृश्य न सिर्फ भावनाओं में बहा ले जाते हैं अपितु पूर्णतः वश में कर लेते हैं। प्रेक्षक द्वारा छिछले-सत्य का भोगने में सुख की अनुभूति ने ही यथार्थवादी चरित्रों को पृष्ठभूमि में डाल दिया है। इसी रुचि - निर्धारण का यह परिणाम है कि 'आनंदी गोपाल' जैसा सार्थक सामाजिक धारावाहिक देर रात में बिना किसी विभव के निकल जाता है जबकि छिछोरा प्रदर्शन 'प्राइम टाइम' पर ठाट-चाट से लगातार चलता है जिसमें भोंडी, बेतुकी हरकतों के सिवा कुछ नहीं होता है। वास्तव में इन्हें देखने से सामान्य दर्शक इसलिए भी आनंदित होता है क्योंकि दूसरे की बेवकूफियों को देखना मानव सुलभ प्रकृति है। इसमें वह आसक्ति संतुष्टि पाता है और अपने को ऊंचा भी अनुभव करने लगता है।

यदि हम चित्रमय-स्वप्निल दृष्टिकोण से भी देखें तो पाते हैं कि टेलीविजन का उद्देश्य ही यह नहीं कि दर्शकों को गहरी दृष्टि में बांधे। परंतु फिर भी दर्शक और पात्र के बीच के संबंध की स्थापना हर स्तर पर आवश्यक हो जाती है। ताकि जो कुछ भी प्रदर्शित हो उसके द्वारा मानवीय तत्वों का संप्रेषण हो और यदि वह यथार्थ की भूमि पर टिका हो तो क्या ही अच्छा हो। तब प्रेषक और पात्र का संबंध सुदृढ़ हो जाएगा और जो कुछ दर्शाया गया हो वह स्वप्न में मायामय चित्रों की भांति कुछ समय के इंद्रिय-संवेदन के पश्चात लुप्त नहीं हो जाएगा, अपितु इंद्रियग्राह्यता की ओर उनमुख करेगा जिसका प्रभाव चिरस्थायी होगा। अतः आवश्यकता है एक मौलिक-टेलीविजन-नाटक की जो सामाजिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुए चरित्रों की पुनर्व्याख्या करे।

बर्लिन का घेराव

ए. दोदे

फ्रांसीसी से अनुवाद : नरेश कुमार

रेखांकन : राजेंद्र गायकवाड़



हम लोग डाक्टर वी के साथ शांपलिजे एवेन्यू (पेरिस का सबसे खूबसूरत मार्ग) की ओर मुड़े और ऐत्वाल चौराहे के थोड़ा पहले डाक्टर रुका और उसने कोने के बड़े मकानों में एक मकान दिखाया जो चारों ओर से जयस्तंभ से अलंकृत था।

“देखो”, उसने मुझे कहा, “यह चार खिड़की ऊपर इस बालकनी पर बंद होता है। अगस्त के महीने के प्रारंभिक दिन थे। सत्तर का भयावह अगस्त का महीना (1870, फ्रेंच और प्रशा के बीच युद्ध का समय) मुझे यहां एक सांघातिक मूर्छा के केस के संबंध में बुलाया गया था। यह कर्नल जूव का घर था, प्रथम इंपायर (नेपोलियन प्रथम) का सिपाही, हठी, यशस्वी और देशभक्त। युद्ध के आरंभ में वह शांपलिजे के बालकनी अपार्टमेंट में रहने आया था, जिससे वह अपने देश लौटती विजयी सेना का स्वागत कर सके। अभाग्यवश बूढ़ा.....विसेमबर्ग का जैसे ही समाचार पड़ा कि नेपोलियन हार गया है, मूर्च्छा खाकर गिर पड़ा।

“मैं जैसे ही मकान में घुसा, एक वृद्ध सिपाही को कालीन बिछे कमरे में लेटा हुआ पाया। लेटा हुआ वह विशाल प्रतीत हो रहा था—सुंदर रूप, खूबसूरत दांत, घुंघराले बाल, अस्सी साल का वह, साठ साल का नजर आ रहा था। उसके घुटने के पास उसकी प्यारी पोती आंखों में आंसू भरे बैठी थी। इस बच्ची का दर्द मुझे अभिभूत कर गया। सिपाही की लड़की और उसकी पोती। उसके पिता फ्रेंच सेना में जनरल थे। इस वृद्ध की दशा देखकर ये लोग काफी चिंतित थे। मैंने उन्हें अच्छा करने का विश्वास दिलाया। परंतु मुझे भी सुधार की कम ही आशा दिख रही थी। एक तो पक्षाघात का रोगी, वह भी अस्सी साल का, सुधार असंभव-सा दिख रहा था। बीमार की हालत तीन दिन तक मूर्च्छा अवस्था में जस-की तस रही। इस बीच रेशसोफें से किसी माध्यम से समाचार आया कि हम लोग शाम तक इस युद्ध को पूरी तरह से जीत लेंगे। 20 हजार प्रशियन इस युद्ध में मारे गए हैं, रॉयल प्रिंस को जेल में डाल दिया गया है। मैं नहीं जानता, कौन से चमत्कार से या कैसी चुंबकीय या राष्ट्रीय खुशी की प्रतिध्वनि इस गूंगे-बहरे पक्षाघात के रोगी के अंदर चली गई क्योंकि शाम को जब मैं उसके विस्तर के पास गया तो उसे काफी स्वस्थ पाया। आंखें लगभग साफ थीं, जीभ चलने लगी थी। दो बार उसने कहा :

‘जी....त...’

‘हां, कर्नल, बड़ी जीत!’

“और जैसे ही मैंने उस फ्रेंच सेना की सफलता के बारे में विस्तार से बतलाया, मैंने देखा, उसके चेहरे पर चमक आ गई थी।

बाहर निकला, तो देखा, उसकी पोती चेहरे पर उदासी और आंखों में आंसू भरे मेरा इंतजार कर रही है।

“लेकिन वह बच गए हैं!” कहते हुए मैंने उसका हाथ पकड़ा।

परंतु वह बोली, “तुरंत अभी रेशसोफें का सही समाचार आया है कि फ्रेंच सेना में भगदड़ मच गई है। सभी लोग कुचले गए हैं.....।” मैं आश्चर्यचकित देखता रहा। वह दुखी थी और अपने बाबा के बारे में सोच रही थी। मैं बूढ़े के बारे में सोचकर सिहर गया। निश्चय ही वह इस असफलता का समाचार बर्दाश्त नहीं कर पाएगा।

“किसी भी प्रकार, उन्हें जिंदा रखना होगा, चाहे इसके लिए झूठ ही क्यों न बोलना पड़े,” मैंने कहा।

“ठीक है, मैं झूठ बोलूंगी,” बहादुर लड़की ने मुझसे कहा और जल्दी से अपने आंसू पोंछकर अपने बाबा के कमरे में लौटी। उसके लिए यह करना एक कठिन काम था।

कुछ दिन आराम से निकल गए। बीमार आदमी का दिमाग कमजोर था। उसे बच्चे के समान धोखा दिया जा रहा था। परंतु सुधरते स्वास्थ्य के साथ-साथ उसके विचार भी साफ होते गए। अब उसे फ्रेंच सेना की झूठी जीत का विश्वास दिलाने के लिए झूठे समाचार छपवाकर दिखलाने थे। सैनिक गतिविधियों के बारे में बतलाना था कि कैसे फ्रेंच सेना एक के बाद एक शहर पर विजय पा रही है। इस सबके लिए प्यारी बच्ची दिन-रात एक करती थी। वह मुझसे सलाह मांगती, जितना संभव होता, उतना मैं मदद करता। लेकिन उसके दादा इस काल्पनिक आक्रमण में अनजाने में काफी सहायता कर देते। इसका कारण था कि वह प्रथम इंपायर के नेतृत्व में जर्मनी जीत चुके थे। वह पहले से ही जानते थे कि अब सेना कहाँ जाएगी और क्या करेगी, यह बताते और इसी को थोड़ा बदलकर दुबारा उन्हें सुनाया जाता कि फ्रेंच सेना इस समय यहां पर है, इसने इस शहर को जीत लिया है। हम लोग धीरे-धीरे काल्पनिक आक्रमण के बारे में कहते, जिससे कभी-कभी वह असंतुष्ट भी हो जाते।

“डाक्टर, हम लोगों ने मेयांस ले लिया”, लड़की कहती और मेरे सामने दुखी मुस्कान के साथ आती। मैं दरवाजे की तरफ से एक खुशी से भरी आवाज सुनता, जो मुझे रुलाती।

“बढ़ रहे हैं, बढ़ रहे हैं, आठ दिन में हम लोग बर्लिन में प्रवेश कर जाएंगे।” वह कहते।

उधर, यथार्थ में प्रशियन सेना की एक सप्ताह में पेरिस में प्रवेश करने की उम्मीद थी। हम लोग सोचते, काश, वे सिर्फ राज्यों में ही आएंगे, यहां न आएंगे। क्योंकि अगर वे यहां आएंगे तो इस वृद्ध सिपाही को सच्चाई का पता चल जाएगा और यह उसे एकदम शक्तिहीन बना देगा। शायद उसकी जान भी ले ले।

मैं उसे आनंदित और गर्वित पाता। एक दिन वह मुझसे बोले कि वहां घेराव प्रारंभ हो गया है।

मैं उन्हें आश्चर्य से देखता रहा।

“कैसे, कर्नल आप जानते हैं.....?” वह प्यारी छोटी लड़की यह कहकर मेरी तरफ मुड़ी और बोली “हां, डाक्टर, क्या आपने नहीं पढ़ा, बर्लिन का घेराव प्रारंभ हो गया है। उसके चेहरे पर गंभीरता और शांति प्रतीत हो रही थी।

“हां, कर्नल यह मौसम जीत का है,” और भी जितना मैं कह सकता था, मैंने जोड़ा जिससे उसने आसानी से बर्लिन के घेराव का विश्वास कर लिया।

जब कभी बूढ़ा परेशान दिखता या संदेह में होता, हम लोग उसके लड़के की काल्पनिक चिट्ठी पढ़कर सुनाते कि पेरिस में कोई नहीं घुस सकता। हम लोगों ने जर्मन किले पर फतह कर ली है। जितना युद्ध के मैदान में लिखा जा सकता, उतना ही हम लोग लिखते। कई-कई दिन हम लोग ठीक से खा नहीं पाते, सो नहीं पाते। वृद्ध सिपाही की आंखों में आंसू आ जाते, वह उस पत्र का अनुमोदन करता, आलोचना करता और सलाह देता कि उसे लिखो कि वह एक फ्रेंच है, दयालु बना रहे, विजित सेना के सम्मान का ध्यान रखे। वह उसमें राजनीतिक विचार भी देता कि शांति की स्थिति बनाए रखें, वैकुस को अपने में मिला लें। पराजित देश से ज्यादा मांग न करें, केवल जितना युद्ध में नुकसान हुआ है, उतना ही मांगें।

वह अपने समय के युद्ध का वर्णन करता कि उस समय बर्लिन का घेराव आसान काम नहीं था। काफी ठंड का समय था। भुखमरी का दौर था। हम लोग खाली ब्रेड और मांस खाकर रहे। परंतु धैर्य और मेहनत से बर्लिन का घेराव किया। उसकी पोती ध्यान से सुनती और उसका लगातार ध्यान रखती कि कब उसे दवा देनी है, कब खाना इत्यादि।

एक दिन पोती ने दादा के कहने पर उसका बिस्तर खिड़की के पास कर दिया। उसकी इच्छा थी कि वह विजित राष्ट्र को देखे।

पृष्ठ 39 पर जारी

एक शताब्दी-यात्रा और नई चुनौतियां

हिंदी में बाल साहित्य लेखन को सौ वर्ष पूरे होने जा रहे हैं। इन सौ वर्षों में बाल साहित्य विकास के किन-किन पड़ावों से होता हुआ वर्तमान स्थिति तक पहुंचा है, इसका ब्यौरा दे रहे हैं हरिकृष्ण देवसरे

एक शताब्दी समाप्त होने जा रही है। हिंदी की अन्य विधाओं की तरह बाल साहित्य की यात्रा अपने शैशवकाल से लेकर शतायु होने की अवस्था को प्राप्त कर चुकी है। हिंदी में बाल साहित्य का स्वरूप इसी शताब्दी में उभरा और शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई प्रगति ने इसे साहित्य की स्वतंत्र विधा की गरिमा देकर स्वीकृति दिलाई। बाल साहित्य के प्रति स्वतंत्र दृष्टिकोण शताब्दी के आरंभिक समय से ही रहा है। यह अलग बात है कि जैसे-जैसे समय बीता, बाल साहित्य रचना के प्रति सोच में परिवर्तन आता गया। बालसखा और शिशु ने शताब्दी के आरंभ में बाल साहित्य के स्वतंत्र स्वरूप की स्थापना में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और उसे एक निश्चित रचनात्मक विचार दिया। बालसखा के संपादकीय विचारों को स्पष्ट करते हुए बदरीनाथ भट्ट ने लिखा था : 'एक बार जड़ पकड़ लेने पर कृसंस्कारों से सहज ही छुटकारा नहीं मिल सकता। अतएव इस बात का प्रयत्न करना ही कि संस्कारों की जड़ ही न जमने पावे, बड़ा भारी परोपकार है, क्योंकि इससे जाति या देश का बहुत कुछ कल्याण होना निश्चित है।' फिर बालसखा के प्रकाशन (1 जनवरी 1917) का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कहा गया था—'बालक-बालिकाओं में रुचि लाना, उनमें उच्च भावनाओं को भरना और उनमें से दुर्गुणों को निकालकर बाहर करना, उनका जीवन सुखमय बनाना और उनमें तरह-तरह का सुधार करना।' यह नीतिपरक, उपदेशात्मक और आदर्शवादी बाल-साहित्य रचना की नीति तत्कालीन सभी लेखकों ने स्वीकार की और उन्होंने मनोरंजन के साथ-साथ सीख की बातों का समावेश भी अपनी रचनाओं में किया। हरिऔध, श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, सुखराम चौबे गुणाकर, कामताप्रसाद गुरु आदि अनेक तद्द्युगीन रचनाकारों ने बाल साहित्य लिखा। सुखराम चौबे गुणाकर की एक कविता बालसखा के प्रथम अंक (जनवरी 1917) में छपी थी :

गधा एक था मोटा ताजा, बन बैठा वह वन का राजा।
कहीं सिंह का चमड़ा पाया, चट वैसा ही रूप बनाया।
सबके आगे ज्यों ही बोला, भेद गधेपन का सब खोला।
फिर तो झट सबने आ पकड़ा, खूब मार छीना वह चमड़ा,
देता गधा न धोखा भाई, तो उसकी होती न ठुकाई।

बाल साहित्य रचना और प्रकाशन का ज्यों-ज्यों विकास हुआ उसकी विषयवस्तु, शैली और बाल-मनोविज्ञान के बारे में भी लेखकों का ध्यान आकर्षित हुआ। जहूरबख्श ने सुधा मासिक (नवंबर-दिसंबर 1928) में बाल साहित्य के स्वरूप निर्धारण के विषय में लिखते हुए उसे स्कूल की

पाठ्यपुस्तकों से अलग करके, साहित्य का स्वतंत्र रूप देने की बात पर बल दिया था। उदाहरण के लिए उन्होंने लिखा : 'भूगोल में यह बतलाने से क्या लाभ कि गंगा नदी कहाँ से निकलती है, कहाँ गिरती है और उसके तट पर कौन-कौन नगर बसे हुए हैं। (बाल साहित्य का यह विषय नहीं है। बाल साहित्य में गंगा नदी पर लिखते समय) यह बतलाना चाहिए कि जिस स्थान से गंगा नदी निकलती है, वह कैसा है, गंगा का इतना महत्व क्यों है, उसके पानी से लोगों को क्या लाभ होता है।' बाल साहित्य के प्रति ऐसी सोच का निरंतर विकास होता रहा और उस समय की पत्रिकाओं—बालसखा, शिशु, वानर आदि ने ऐसी ही रचनाओं का प्रकाशन किया, जिससे बाल साहित्य का स्वतंत्र रूप निरंतर स्पष्ट होता गया। बाद में जब रामनरेश त्रिपाठी ने वानर का संपादन आनंद कुमार को सौंपा तो वह बाल साहित्य में क्रांतिकारी विचारों के बीज बोने में सक्रिय हुए—क्योंकि उस समय स्वतंत्रता आंदोलन अपने पूरे उत्कर्ष पर था और परिवर्तन की लहर पूरे विश्व में उठ रही थी। इसलिए युग की मांग भी थी कि भारत की भावी पीढ़ी नई दुनिया के अनुरूप निर्मित हो।

आनंद कुमार ने वानर (सितंबर - अक्टूबर 1933) के अंक में दकियानूसी विचारों के खिलाफ बड़ी वेबाकी से लिखा : 'हमारे पास सत्तर फीसदी लेख और कविताएं ऐसी आती हैं जिनमें बस ईश्वर के आगे, एक गुलाम की तरह हाथ जोड़कर प्रार्थना की जाती है। हम इसको पसंद नहीं करते। मैं ईश्वर का विरोध करने को नहीं कहता, पर यह जरूर कहता हूँ कि जो कुछ करना चाहिए, अपने भरोसे पर करना चाहिए, ईश्वर या किसी और के भरोसे पर नहीं। अब वह जमाना बीत गया जब लोग मौज से घर में बैठकर, तरह-तरह की झूठी कल्पनाएं किया करते थे। अब समाज और देश में क्रांति करने की आवश्यकता है। इसलिए प्रत्येक काम समय देखकर करना चाहिए।' आनंद कुमार की यह टिप्पणी अत्यंत क्रांतिकारी विचारों वाली थी और सन् 1933 में बाल साहित्य-रचना के प्रति व्यक्त इन्हीं विचारों को आज 62 वर्ष बाद भी उसी तरह दुहराया जा रहा है, क्योंकि भारतीय जनमानस ने रूढ़िवादिता और पारंपरिक चिंतन से ग्रस्त अंधविश्वास और पौराणिकता को अभी तक नहीं छोड़ा है। आज भी बाल साहित्य में नए युग और समाज के अनुरूप भावी पीढ़ी के निर्माण की चिंता व्यक्त की जा रही है, किंतु अंधविश्वास ने इतनी गहरी जड़ें जमा ली हैं कि लोग मूर्तियों को दूध पिलाने से लेकर जी.टी. वी. पर भूत-प्रेत, आत्मा, प्रेत आदि के होने से लेकर जादू-टोने के महत्व को स्वीकार कर रहे हैं। एक ओर विज्ञान दुनिया को आगे ले जा रहा है, दूसरी ओर हमारे लोग चमत्कारों और जादू आदि

पर विश्वास कराने में व्यस्त हैं।

आनंद कुमार के विचारों जैसी ही कुछ बातें कुंवर सुरेश सिंह ने कुमार के संपादकीय (जनवरी 1940) में लिखी थीं : 'हमारे युग में जहां एक ओर मानव सभ्यता के लिए हितकर विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हो रहा है, वहां दूसरी ओर अनेक प्रतिक्रियात्मक और भ्रम में डालने वाले सिद्धांतों का भी प्रचार बढ़ रहा है। हमारा सदैव से ये दृष्टिकोण रहा है कि हम अपने बालकों को इन विवादों के चक्कर में न डालकर उनके सामने केवल वैज्ञानिक सामग्री प्रस्तुत करें जिससे उन्हें मानव जीवन और संसार के प्रति अपने दृष्टिकोण को वैज्ञानिक बनाने में सहायता मिले।'

बाल साहित्य के प्रति दृष्टिकोण में इस परिवर्तन को रचनात्मक रूप देने में अधिक सफलता नहीं मिली। इसके दो कारण मुख्य थे। एक—बरसों से फैली धर्मांधता, रूढ़िवाद और अंधविश्वास, दूसरा—तत्कालीन राष्ट्रीय और सामाजिक परिदृश्य। इसलिए जो बाल साहित्य लिखा गया वह या तो पौराणिक, लोक परक और पारंपरिक कथा-साहित्य पर आधारित था, या देशप्रेम, वीरों की महिमा, स्वतंत्रता का महत्व, भारत माता आदि विषयों को लेकर लिखा गया था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद छठे दशक के आरंभ में बाल साहित्य को भी साहित्य की अन्य विधाओं के रूप में स्वीकार किए जाने की पहल हुई। लेकिन तब बाल साहित्य के नाम पर लोककथाओं और सरल भाषा में लिखी ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें ही अधिक प्रकाशित हुईं, क्योंकि स्कूलों और पुस्तकालयों में बच्चों के लिए पुस्तकों की जरूरत महसूस की जा रही थी। इसलिए प्रकाशकों ने इस अवसर का लाभ उठाया और बाल साहित्य के नाम पर काफी कुछ वह सब छपा जो बाल साहित्य था ही नहीं।

सातवें दशक में एक ओर विकास कार्यक्रम चले, कृषि उत्पादन में आत्मनिर्भरता आई और औद्योगीकरण हुआ तो दूसरी ओर वैज्ञानिक प्रगति हुई, जनसंचार-साधनों का विकास हुआ, शिक्षा के प्रसार से सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों में बदलाव आने लगा। इन परिवर्तनों ने जहां साहित्य को आम आदमी से जोड़ने और यथार्थपरक बनाने के लिए लेखक-कवि अग्रसर हुए, वहीं बाल साहित्य में भी बच्चों के संसार में होने वाले परिवर्तनों के प्रतिबिंबित होने की अपेक्षा की गई। उस समय जवाहरलाल नेहरू ने अपना जन्मदिन 14 नवंबर 'बाल दिवस' के रूप में घोषित कर दिया था और इस कारण सभी साप्ताहिक और दैनिक पत्र इस अवसर पर 'बाल विशेषांक' प्रकाशित करने लगे थे। सातवें दशक के अग्रणी हिंदी साप्ताहिक *धर्मयुग* और *साप्ताहिक हिंदुस्तान* हर अंक में बच्चों के लिए विशेष पृष्ठ प्रकाशित करते थे। लगभग इसी दौरान यानी 1959 में *पराग* का भी प्रकाशन शुरू हो चुका था। इस सबके फलस्वरूप मौलिक बाल साहित्य की अधिक मांग बंदी। हालांकि *चंदामामा*, *नंदन* जैसी पत्रिकाएं पौराणिक और लोककथाओं की लीक पर ही चलती रहीं।

धर्मयुग और *पराग* ने बच्चों के लिए नया और आधुनिक जीवन से जुड़ा बाल साहित्य प्रकाशित करने की परंपरा शुरू की। नए प्रतीकों और भाव-बोध के शिशु गीत तथा मनोविज्ञान पर आधारित कहानियों का प्रकाशन शुरू हुआ। धीरे-धीरे बाल साहित्य में लेखकों के दो वर्ग बन गए। एक वह जो पौराणिक, ऐतिहासिक, पारंपरिक, लोककथाओं आदि का पुनर्लेखन करके उसे 'मौलिक बाल साहित्य' मानता था तो दूसरा वर्ग आज की जिंदगी, बच्चों के अपने संसार, मनोविज्ञान और रुचियों से जुड़ा यथार्थपरक बाल साहित्य लिख रहा था। वास्तव में इस दूसरे वर्ग के लेखकों ने ही बाल साहित्य को मौलिक बनाने में योगदान किया। फिर *धर्मयुग* के माध्यम से एक बहस

छिड़ी कि क्या राजा-रानी की सामंती मूल्यों वाली कहानियों की सार्थकता, आज के बच्चों के लिए है? क्या परीकथाओं, जादूगरों और भूत-प्रेतों की कहानियां बच्चों को पढ़ाना सार्थक है? इस सबका यह परिणाम हुआ कि मौलिक बाल साहित्य रचना को अधिक महत्व मिला।

इसके साथ ही साथ बाल साहित्य में हो रही प्रगति, परिवर्तन और प्रयोगों के कारण, समीक्षकों-आलोचकों की दृष्टि में 'बाल साहित्य' को, साहित्य की स्वतंत्र-मौलिक विधा स्वीकार कराने के प्रयास भी किए गए। बाल साहित्य से जुड़े विविध प्रश्नों पर पत्र-पत्रिकाओं में काफी कुछ लिखा गया।

बाल साहित्य की रचना प्रक्रिया और उसके क्रमिक विकास का आकलन प्रस्तुत करने के लिए सबसे पहले हिंदी में मैने शोध कार्य किया और उसे जबलपुर विश्वविद्यालय ने सन् 1968 में पी-एच.डी. की उपाधि के लिए स्वीकार भी किया। इसके बाद कई शोध प्रबंध थोड़े-थोड़े अंतराल से आए और इस प्रकार 'बाल साहित्य' को, साहित्य में स्वतंत्र-विधा का अंततः स्थान मिला। लेकिन बाल साहित्य-रचना में जो समसामयिक बदलाव और प्रभाव प्रतिबिंबित होने चाहिए वे पूरी तरह उभरकर नहीं आए, क्योंकि दो वर्गों में बंटे लेखकों के बीच बाल साहित्य 'परंपरावादी' और 'आधुनिकता बोध' के बीच फंसकर ही रचा जाता रहा। ऐसे दोनों तरह के बाल साहित्य को पत्र-पत्रिकाओं का भी प्रश्रय मिलता रहा।

आठवें और नौवें दशक में औद्योगीकरण के विकास, शहरीकरण की समस्याओं, वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप जीवन शैली में बदलाव और जीवन-स्तर में हुए विकास के कारण समाज के स्वरूप और मूल्यों में भी परिवर्तन आया। कान्वेंटी शिक्षा पद्धति के प्रति बढ़ता आकर्षण, स्कूलों के पाठ्यक्रमों में विज्ञान पर जोर और आधुनिक जीवन की धुरी पर निर्मित होने वाले भविष्य के फलस्वरूप लोगों की सोच में बदलाव आया और वे बच्चों को डाक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक बनाने की दिशा में चल पड़े। शिक्षा के प्रसार और जगह-जगह खुलने वाले मेडिकल और इंजीनियरिंग कालेजों ने इस विचार को मूर्तरूप देने में सहायता की। इस तरह शिक्षा के विकास से बच्चों में अभूतपूर्व बदलाव आया। उनका नजरिया तार्किक और वैज्ञानिक होने लगा और वे यथार्थ पर अधिक विश्वास करने लगे। उनके ज्ञान-स्तर में भी वृद्धि हुई। स्पष्टतः वे अपने लिए ऐसे साहित्य की अपेक्षा करने लगे जो उनके नए दृष्टिकोण को विकसित करे और उनकी जिज्ञासाओं को शांत कर सके। बाल-मनोविज्ञान से जुड़ी कहानियों, विज्ञान-कथाओं, साहस-कथाओं आदि ने इस अभाव को पूरा किया।

नौवें दशक में आते-आते कुछ नई समस्याएं उभरीं। समाज के विभिन्न वर्गों में आर्थिक असमानता बढ़ने के बावजूद, आधुनिक जीवन-शैली के प्रति लोगों में आकर्षण निरंतर बढ़ने लगा था। दूसरी ओर नौकरी की तलाश में दूर-दराज जाने के कारण परिवार छोटे होने लगे थे। ऐसे में बच्चों को अपने दादा-दादी या नाना-नानी के संरक्षण से दूर जाना पड़ा। आर्थिक विषमता के कारण पति के साथ पत्नी को भी नौकरी करने के लिए विवश होना पड़ा, इससे बच्चे माता-पिता की उपेक्षा का शिकार होने लगे। एकल परिवारों में बच्चा अकेला हो गया। पति-पत्नी के झगड़ों के बीच वह पिसने लगा, समस्याग्रस्त होने लगा। उसमें कुंठाएं भी पनपने लगीं। स्कूल में शिक्षा और शिक्षक—दोनों व्यवसायी हो गए। ट्यूशन करने वाले बच्चों को बढ़ावा मिला और ट्यूशन न करने वालों को प्रताड़ना मिली। उधर राजनीतिक पतन, भ्रष्टाचार का विकास और बढ़ती हुई हिंसा ने पूरे समाज को जिस तरह से

रेखांकन : राजेंद्र गापकवाड़



दोषी कौन?

श्रीकारम राममोहन

तेलुगु से अनुवाद : पोकूरि श्रीरामुलु

“इधर, दो टिकट काटना!” दस रुपये का नोट काउंटर के अंदर बढ़ाते हुए खुरदरे हाथ की ओर बुकिंग क्लर्क ने निगाह डाली और फिर उस हाथ को अंदर पसारते हुए चेहरे की ओर काउंटर की सलाखों में से झांका। चेहरा कुछ-कुछ मैला ही था और सिर पर उसने एक मैली पगड़ी पहनी थी, जो उससे भी मैली थी। क्लर्क को थोड़ा ताज्जुब और थोड़ी परेशानी हुई।

“यह साढ़े तीन रुपये का काउंटर है, जनाब! फर्शनशीन क्लास उस तरफ है!” बुकिंग क्लर्क की आवाज में उस भोले देहातीनुमा खेतिहर मजदूर को आगाह कराने का मतलब भरा था।

“मालूम है, तभी तो दस का नोट दिया है। जल्दी, दो टिकट चाहिए!” सत्तय्या ने बेझिझक जवाब दिया। बुकिंग क्लर्क का तंज बह समझ गया था और उसका जवाब भी। तभी तो सत्तय्या को मजाक सूझा।

“मैंने सोचा तुझे शायद पता नहीं है। ठीक है।” क्लर्क ने दो टिकट फौरन काटे और उनके साथ तीन रुपये के सिक्के भी काउंटर के बाहर सत्तय्या की हथेली पर रख दिए।

दोनों टिकट जेब में दबाकर सत्तय्या तेज कदम भरता हुआ उस जगह पहुंचा जहां रत्नालू उसके इंतजार में खड़ी थी।

रत्नालू फर्शनशीन टिकट काउंटर और उसको घेरे हुई भीड़ को देख रही थी। लोग बेचैन थे। उन सभी की बेचैनी की एक ही वजह थी—खेल शुरू होने के पहले सिनेमाघर में कैसे घुसें और अपनी-अपनी माकूल जगह बनाकर शो का कैसे मजा उठाएं! इस उतावलेपन के इजहार में वे शोर मचा रहे थे, चीख रहे थे और कुछ तो यहां तक माहौल और तहजीब का खयाल किए बिना सीटी बजा रहे थे। कहीं टिकट झपट्टा मारने से मिल जाए, एक-दूसरे के सामने वे अपना जिस्मानी जोर आजमा रहे थे, इस आजमाइश की कोशिश में उनके कपड़े-कुर्ते मैले तो हो चुके थे, चेहरों पर पसीना छूट रहा था और मायूसी में वाज लोग मैनेजमेंट को गालियां भी देने लगे। कहीं दंगा न हो जाए, इस शक से पुलिसमैन लाठी के बल से बेकतार लोगों को पीछे की ओर धकेलने की नाकाम कोशिश में था। पिछली बार रत्नालू अपने शौहर के साथ सिनेमा देखने आई थी, तब उसके खाविंद को भीड़ के कारण किसी ने जवर्दस्त धक्का दिया और वह मुंह के बल गिरा था। शौहर को चोट आई थी। सारा वाकया उसकी आंखों के सामने फिल्मी रील की तरह घूम गया। उसका शौहर दूसरे दिन रिक्शा चलाने भी न जा सका था। जाने क्यों उसका शौहर सिनेमा देखने के पीछे इतना वावला होता है?

बुकिंग काउंटर खुलते ही टिकटों की काला बाजारी खुली विक्री के साथ-साथ शुरू होती और पच्चीस-पचास टिकट बिक नहीं पाते कि काउंटर बंद हो जाता और साढ़े तीन रुपये का टिकट सात में, फिर ‘दो का चार, दो का चार’ की आवाजें गूंज उठतीं।

“अरी ओ रत्नालू, चलो अंदर चलें। देखा, ये ऊंचे क्लास के टिकट कितनी आसानी से मिल जाते हैं। यही तो कमाल है।”

“कितने में लिया?” रत्नालू ने सवाल किया। उसने ऐसे ही पूछा था, बिना किसी मकसद के।

“सिर्फ सात रुपये में।”

“बेकार खर्चा किया।”

“जाने दो रत्ती। ज़िंदगी में एक बार जशन

मनाने का मौका निकला है।”

दोनों बालकनी की ओर गए। टिकट फाड़ते हुए गेटमैन ने अजीब नजरों से दोनों को देखा। उसकी नजर अजीब ही नहीं थी, बल्कि माथे पर शिकन भी पड़ी थी।

“मुझे डर लग रहा है!” रत्नालू ने अपने शौहर की बाह पर कुहनी दे मारी और सहमी आवाज में कहा।

“अरे पगली, डर काहे का। क्या हम चोर-उचक्के हैं जो दूसरों की दौलत लूटकर सिनेमा देखने आए हैं।” सत्तय्या के गले में से विफिक्री झलक रही थी। वह पहले ही फक्कड़ जो था और जब किसी से उसका फख्र चोट खाता वह अपना मूड खो बैठता था—“पैसे दिए, टिकट लिए, क्यों डरती है खामखावा।”

रत्नू के सामने ऊंचे दर्जे का वेंटिंग हाल था। पूरा फर्श कालीन से ढका हुआ और जगह-जगह मुंतजिर लोगों के लिए सज-धजे सोफे। विजली की बत्तियों की चकाचौंध देखने में रत्नालू खो गई। सीढ़ियां दूधिया पत्थर की बनी थीं जिन पर लाल कालीन बिछाया गया था। कहीं मेरे नंगे पांवों के मैल से यह कालीन गंदला न हो जाए। इस खयाल में वह जकड़ी जा रही थी। सोफों पर लोग खचाखच बैठे थे, वेशकीमती रंग-विरंगे कपड़े पहने थे। वहां की औरतों का आलम देखने लायक था, एक-दूसरे से खूबसूरती में होड़ लगाती सुंदर साड़ियों की चमक-दमक के सामने रत्नालू का चेहरा फीका हो गया था। उसका मन अनजाने में हीनता का शिकार हो चला था। कहां हम इन मैले कोरे कपड़ों में और कहां ये लोग! सत्तय्या को ऊंचे दर्जे की बालकनी में आकर खुशी और नाज महसूस हो रहा था मगर उसकी औरत रत्नालू उलटे शरम के मारे सिकुड़ी जा रही थी।

“अरी रत्नालू, अंदर जाने के पहले इधर सिनेमा की कुछ तस्वीरें देख आएं। सत्तय्या की ऊंची आवाज ने खयालों में डूबे हुए उसके जिस्म को झिंझोड़ दिया।

“नहीं सत्तू, उधर मैं नहीं आती, मुझे शर्म आ रही है। अंदर चलकर बैठ जाएंगे।”

“ठीक है।”

बालकनी में से पूरा हाल दिख रहा था। फर्शनशीन क्लास भरती गई। सीढ़ियों पर भी लोग बैठे थे। कुछ लोग जगह बनाने में अभी लगे थे, नीचे बैठे लोगों से तकरार कर रहे थे। क्या ही अच्छा हो कि हम हमेशा की तरह जमीन की क्लास

में बैठकर सिनेमा देखते! यह क्या बला लाया है अपना शौहर! सत्तय्या ठीक उसका उलट सोच रहा था। आज वह इस बहाने ऊंचे तबके के लोगों में आ मिल गया है। क्यों न हो, मैं रोज इसी तरह इन लोगों के साथ बराबरी से पेश आता रहूं। हरेक को अपने धंधे पर फख्र होता है, मुझे भी अपने काम पर नाज है। कोई भी इंसान कुदरतन धंधे के लिहाज से ऊंचा-नीचा नहीं कहलाता। हमारे गांधीजी कहा करते थे—काम इबादत होता है। यह कुर्सी मेरे लिए राजगद्दी के बराबर है और मैं किसी राजकुमार से क्या कम हूं! आज मैं इस कुर्सी पर बैठकर राज करूंगा। देखता हूं, मुझे कौन टोकता है!

“देखा रत्ती, सीटें कितनी मुलायम हैं!” हाथ से दबाते हुए सत्तय्या ने कहा।

रत्नालू उसकी बातें सुनने को तैयार नहीं थी, उसका दिल घबराहट से सराबोर था। ऐसा महसूस कर रही थी गोया वह कोई कैदी है। जल्द से जल्द इस जेलनुमा क्लास के शिकंजे से वह बाहर होना चाहती थी।

“वह तो ठीक है, पहले यह बता, तेरे को ये दस रुपये कहां से मिले?”

शाम को वह अपना काम खत्म करके आई थी, सत्तय्या उसकी राह देख रहा था देहलीज पर। “सत्तू, आज तू जल्दी आ गया!” उसने सत्तय्या से पूछा। रोज दस बजने के पहले उसका शौहर कभी भी घर नहीं लौटता था। आज अचानक कैसे आ टपका? उसे ताज्जुब हुआ।

“उसकी वजह मैं तुम्हें बाद में बताऊंगा। पहले चलो मेरे साथ। देर हो रही है।”

रत्नालू तैयार नहीं हुई।

“क्यों री, जब से देख रहा हूं, तू खाट से चिपकी बैठी है। मेरी बातों का जरा भी असर नहीं पड़ रहा है। पांच वज्र चुके हैं। तू वहीं की वहीं है। धत् तेरी!”

“आज मालकिन को कहीं वाहर जाना है। इस वास्ते काम कुछ ज्यादा हो गया। लेकिन तू क्यों जल्दी में है? माजरा क्या है? जरा सूनों तो सही।”

“आज हम दोनों सिनेमा देखने जा रहे हैं। देखा, कल प्रोग्राम बनाया तो आज बना। आज हम बालकनी में बैठकर सिनेमा देखेंगे।” सत्तय्या की आवाज में जीत का डंका बजाने जैसी खुशी थी। उसको मलाल था कि इतना छोट्या-सा अरमान भी मैं पूरा नहीं कर सका तो लानत है इस ज़िंदगी पर।

“तो फिर पैसे कहाँ से लाएगा?”

“लो!” तपाक से हाथ की मुट्ठी खोली सत्तय्या ने। उसकी हथेली में चमकता हुआ दस का नोट था। रत्तालू की आँखें नोट की चमक से चौंधिया गई। फिर संभलकर पूछा, “अमा, दस रुपये! कहाँ से मारे?”

“मारे तो नहीं। लेकिन आज सिनेमा देखने की मैंने कसम खाई है।”

“सिनेमा पर दस रुपये खर्च करना नादानी है, बेवकूफी है। ऐसी हरकत मुझे बर्दाश्त नहीं होगी। आज सिनेमा नहीं देखा तो क्या आसमान से कहर थोड़े ही बरसेगा? उन पैसों से चार दिन का राशन जुट सकता है।”

सत्तय्या के चेहरे पर ज़िद झलकने लगी। मुंडी हिलाते हुए उसने जवाब दिया, “ऐसा नहीं होगा। तुझे जल्दी चलना होगा, अभी, इसी वक्त, मुंह धोने के लिए भी वक्त नहीं है। सिनेमा शुरू हो जाए तो समझाना आधा मजा किरकिरा हो गया है।”

सत्तय्या का हठ तो हमीरहठ था। वह पता नहीं लगा सकी, उसका पति दस रुपये कहाँ से लाया।

सत्तय्या ने रत्तालू की ओर देखा—

“इस दस के नोट का बड़ा दिलचस्प किस्सा है। आज मेरे रिक्शे में दो बाबू सवार हुए। गांधीनगर के लिए रिक्शा चुकाया। मेरा किराया मुझे देकर दोनों गांधीनगर पार्क के पास उतर गए—एक खपरैल घर के सामने। घर के अंदर दोनों के चले जाने के बाद, मैं खाली रिक्शा लेकर थोड़ी दूर तक धीरे से चलाता गया कि सीट पर से किसी चीज के नीचे लुढ़कने की आवाज हुई। मैं चौंका, फिर मुड़कर लकड़ी के तख्ते की ओर देखा। सवारी के पैर रखने की जगह पर एक बटुआ पड़ा था। रिक्शे से उतरकर पीछे पहिए के पास आया, हाथ में बटुआ लिया, फिर खोला। बटुए में सौ-सौ के तीन नोट थे। मेरा दिल नहीं हुआ आगे जाने का, रिक्शा मोड़कर फिर उस मकान पर गया, जहाँ दोनों बाबू उतरे थे। दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खुला। मैंने उनका बटुआ सही-सलामत वापस किया। इतने में दूसरा बाबू भी अंदर से आया और कहने लगा—आज मेरे भाग अच्छे हैं। मैंने कतई नहीं सोचा था कि मेरा बटुआ वापस मिलेगा। बड़ी खुशी में बाबू ने मेरे हाथ में दस का नोट थमाते हुए कहा—यह तुम्हारी ईमानदारी के लिए हमारी ओर से इनाम है। इस पैसे से आज तुम और तुम्हारी बीबी दोनों सिनेमा देखना। सुदर्शन में ‘रिक्शावाला’ फिल्म चल रही

है। बड़ी अच्छी है जरूर देखना।”

“सत्तू, यह पैतरा कहीं और चलना। सिनेमा देखना वाली बात मैं कतई नहीं मानूंगी। तू सरासर बोल रहा है। है न ...!” रत्तालू ने सत्तय्या के मुंह को देखा।

“तेरी कसम! मैं झूठ क्यों बोलने लगा?”

“तुम्हारे जैसे ईमानदार शख्स सिर्फ फिल्मों में देखने को मिलते हैं, ज़िंदगी में नहीं।”

बालकनी आहिस्ता-आहिस्ता भरने लगी। हाँ, दोनों के बाजू की सीटें अभी खाली पड़ी थीं। कुछ लोग उनके पास तक आते, फिर जाने क्यों मुंह सिकोड़ते हुए दूसरी कतारों में जा बैठते। शायद दोनों के कपड़े अच्छे नहीं थे, इसलिए नाक-भौं सिकोड़कर चले जा रहे थे। न्यूजरील चलनी शुरू हुई। थियेटर में अंधेरा था। न्यूजरील खत्म होकर फिल्म शुरू हुई। तब तक उनके बाजू की सीटें भी तकरीबन फुल हो गईं।

फिल्म का नाम था—‘रिक्शावाला’। फिल्म का हीरो भी रिक्शावाला ही था। लेकिन उसने उजले, इस्तरी किए कपड़े पहने थे। वह ज्यादा साफ-सुथरा था, उसके बाल सजे-संवरे थे। अपनी बहन को वह कालेज में पढ़ाता था। उसकी पढ़ाई का सारा खर्चा वह अपनी कमाई से उठा रहा था। वह रोज एक साहूकार की बेटी को रिक्शे में बिठाकर कालेज छोड़ आता था। वह लड़की रिक्शावाले से आँखें लड़ाने लगी। रिक्शावाले को सूझ नहीं रहा था कि क्या किया जाए।

“सत्तू”, रत्तालू ने सत्तय्या की बांह पर कुहनी मारी, फिर तफसरा किया—“तू तो ऐसी हरकत नहीं करेगा। किसी भी जवान लड़की को नहीं बैठाना, समझे। वरना मुझसे बुरा कोई नहीं होगा। अगर तू उस पर आशिक हो गया तो मेरी देखभाल कौन करेगा?”

“चुप, पगली कहीं की? यह तो फिल्म है हकीकत थोड़े है।” सत्तय्या की बातों में लापरवाही की वू थी। लेकिन रत्तालू सत्तू की राय से रजामंद नहीं थी।

“हम अपने छोटे सत्तू के लिए तख्ती नहीं खरीद पा रहे हैं। यह सिनेमा का रिक्शावाला बहन को कालेज में कैसे पढ़ा पा रहा है?” रत्तालू का कहना ठीक ही था। उसकी दलील मुनासिब थी।

“अरी, यह तो सिनेमा का अफसाना है। इसमें सब कुछ जायज होता है। आखिर मैं पूछता हूँ, हम सिनेमा देखने आए हैं या बहस में वक्त गुजारने? मुझे और नहीं चिढ़ाना। समझी?”

हीरो और हीरोइन की शादी के लिए हीरोइन का पिता रजामंद नहीं था। यहाँ पर आकर कहानी का इंटरवल हुआ। थियेटर की सारी बत्तियाँ जल उठीं।

‘तू यहीं बैठ। मैं अभी आया!’ सत्तय्या अपनी सीट से उठकर रास्ता बनाता हुआ गेट के बाहर गया।

रत्तालू मुंडी हिलाते हुए आजू-बाजू में बैठे लोगों के चेहरे देखने लगी। उसने बिल्कुल बाजू की सीट पर अपनी मालकिन को बैठे हुए देखा। मालकिन अपने पति की ओर मुंह किए बातें कर रही थी। रत्तालू फूली न समाई।

“मांजी!” रत्तालू ने अपनी मालकिन को देखकर कहा।

मालकिन ने रत्तालू की तरफ मुड़कर देखा। उसके चेहरे पर काटो तो खून नहीं। वह ऐसे चौंकी जैसे उसने कोई सांप देखा हो। फिर संभलकर बोली, “तू ... यहाँ ...!” इतना ही कह पाई, फिर चुप हो गई।

“मांजी, आपके घर का काम खत्म करके अपने घर आई भी नहीं थी कि मेरा सत्तू सिनेमा के लिए मुझे खींचके ले आया।” वह अब शरमा रही थी। अब तक वह उस थियेटर में घुटन महसूस करती हुई बैठी थी। मांजी को देखते ही उसकी बाँछें खिलीं और वह हिम्मत बटोरने लगी। मालकिन के नजर आते ही उसकी सारी परेशानी और माहौल का अजनबीपन गायब हो गया। उसके चेहरे पर खुशी की लहर दौड़ गई।

“मांजी, यह मेरा सत्तू है, मेरा शौहर!” चिप्स का पैकेट हाथ में धामकर अपने बाजू में बैठ रहे सत्तय्या की ओर, हाथ से इशारा करते हुए रत्तालू ने उसका परिचय करवाया। सत्तय्या को माजरा समझ नहीं पाया। उसने भोलेपन से मालकिन को देखा। फिर मालकिन की ओर इशारा करते हुए उसने सत्तय्या से परिचय कराया। तब कहीं जाकर सत्तय्या की समझ में आया कि सारा मामला क्या है।

“पांव छूता हूँ, मालकिन जी!” सत्तय्या ने अदब का मुजाहिदा किया।

अगली कतार के लोगों ने दोनों की बातचीत सुनकर पीछे की ओर देखा। सत्तू और रत्ती को देखकर मुस्कराए, फिर फिल्म देखने लगे। मालकिन को अपनी मुलायम सीट एकदम कांटों की सेज लगी। पांच ही मिनट में वह उठ गई।

“मांजी, क्या सिनेमा पसंद नहीं आया है?”

स्तालू उठती हुई मालकिन से मुखातिब हुई। मालकिन ने शायद इसका जवाब देना जरूरी नहीं समझा, उठकर चली गई।

नहीं बजा सकता, तरह-तरह की अजीबोगरीब चीखें नहीं निकाल सकता, बात-बात पर लोगों का ध्यान बंट जाने का डर था।

की जन्मत हुई होती। तू सपने संजोती रह। किसी न किसी रोज दुनिया ही तंग आकर तेरे रास्ते पर चलने लगेगी।”

“सत्तू, यह नाइंसाफी है न?” स्तालू ने सिनेमाघर से बाहर आते हुए सत्तय्या के कान में धीरे से कहा।

“कैसी री?” सत्तय्या ने जानने के लिए पूछा।

“इन विचारों के लिए मालिक लोगों ने अच्छी कुर्सियां डालीं, यह तो ठीक है। लेकिन इनको पीछे बिठाकर इनसे साढ़े तीन रुपये वसूल कर रहे हैं। पैसे वालों की यह सरासर लूट है। क्यों, तू मानता है न!”

“तो फिर क्या चाहती है?”

“मेरी मोटी समझ में एक ही बात इंसाफ लगती है। क्यों न सबके लिए ये मालिक लोग एक ही दर्जा रखते और सभी से एक ही रकम वसूल करते! सभी से एक ही रुपया लिया जाए तो कितना अच्छा हो! हरेक अपनी मर्जी के मुताबिक अपनी मनपसंद सीट पर कब्जा करके सिनेमा देख सकेगा। इतने तबके, इतने दर्जे रखने में कोई तुक नहीं है।”

स्तालू के लंबे भाषण में सत्तय्या जरूर थी, मगर दुनिया इतनी दरियादिल है कहां जो उसकी बात मान ले! सत्तय्या पढ़ा-लिखा न सही, मगर दुनियादार था, दुनिया के लोगों से बखूबी वाकिफ था।

“ऐसा नहीं हो सकता, पगली! अगर तुम्हारे कहने के मुताबिक दुनिया चलती तो ये जंगें नहीं होतीं, ये दंगे-फसाद नहीं होते। यह दुनिया कभी

सत्तय्या ने बात तो कह दी, लेकिन अपनी भोली बीबी स्तालू की मासूमियत पर उसकी हमदर्दी उमड़ पड़ी।

स्तालू दूसरे दिन जल्दी घर आ गई। सत्तय्या को आश्चर्य हुआ। उसने आंखों में सवाल भरकर स्तालू को देखा। स्तालू की आंखें नम थीं।

“क्या बात है?”

“इस सिनेमाघर को आग लगे। महीना पच्चीस रुपये की नौकरी चली गई है। ये लोग भी कैसे होते हैं?”

“आखिर क्या हुआ?”

“रोज की तरह सुबह मांजी के घर गई थी चौका-वर्तन करने। मांजी ने ऐसा फटकारा कि जिंदगी भर नहीं भूल सकती। कह रही थी—साढ़े तीन रुपल्ली का टिकट खरीदकर सिनेमा देखने वाली है तू। अब बहुत बड़ी हो गई है। तू हमारे घर क्या नौकरानी का काम करेगी? तुम्हारी शक्ल-सूरत नौकरानी की नहीं रही है। बहुत हुआ, अब जा!” स्तालू के भोले मन ने अपनी सारी भड़ास निकाल दी।

सत्तय्या बीबी से कम मासूम और बेवकूफ नहीं था। वह अपना सिर खुजलाता वहीं बैठ गया। □

बर्लिन का घेराव

पृष्ठ 33 से आगे

एक शाम जैसे ही मैं पहुंचा, बच्ची परेशान-सी मेरे पास आई।

“कल वे प्रवेश कर लेंगे”, वह मुझसे बोली। वृद्ध सिपाही के कमरे का दरवाजा खुला था। उसने हम लोगों की बातें सुनीं और इसे फ्रेंच सेना के बारे में माना और वह उन लोगों के विजयी होकर लौटने का सपना देखने लगा। दूसरे दिन सुबह से ही वह खिड़की के पास खड़ा होकर उन लोगों के लौटने का इंतजार करने लगा कि वे सब फूल मालाओं से लदे यहां आएंगे और विजयी धुन बजाएंगे।

कहानी के एक-एक वाक्य में तरतीब के अलावा तेजी थी। हीरोइन का पिता चाहता था कि उसकी बेटी का ब्याह उसके मैनेजर से हो। लेकिन हीरोइन एक निडर, निहायत पढ़ी-लिखी और तहजीबयाफ्ता कालेज गर्ल थी। वह पिता से इस मामले में टकरा गई। वह घर से भाग गई और रिक्शावाले के घर में आकर रहने लगी। हीरोइन का पिता भी कम चालबाज नहीं था। वह अपने हथकंडों के लिए पहले ही वदनाम था। उसने रिक्शावाले पर झूठा इलजाम थोप दिया। हीरोइन पिता की चालों से हिम्मत हारने वाली नहीं थी। वह अपनी ननद के साथ उसी झोंपड़ी में रहने लगी। चौका-वर्तन, छोटे-मोटे काम—इनसे जो पैसे मिलते, घर चला ले रही थी। खुद की पढ़ाई छोड़ दी मगर ननद की पढ़ाई जारी रखवाई।

रिक्शावाला भी कम चालू नहीं था। जेलर को चकमा देकर भाग निकला। अपने होने वाले ससुर की खुफिया सरगर्मियों का पता लगाया। इस राज का भांडा फोड़ने में उसे देर न लगी कि उसका ससुर आखिर एक जाना-माना स्मगलर है। वह रात में चुपचाप अपने घर आता और सुबह होते ही चला जाता। पुलिस के जाल में फंसते-फंसते बचता जा रहा था। हीरोइन की मदद से उसने अपने स्मगलर ससुर के अड्डे का पता लगा ही लिया। पुलिस को इसकी खबर पहुंचा देने में वह कामयाब हो गया। अचानक एक दिन पुलिस ने उसके अड्डे को आ घेरा। पुलिस के कुछ आदमी उससे वाक्यदा मामूल लेते थे। उनके जरिये उसे इसकी भनक हो गई थी। नकद और जवाहरात लेकर वह जीप गाड़ी में खिसक गया। रिक्शावाले को अपने ससुर साहब से हिसाब चुकाना था। उसने अपनी रिक्शा में जीप का पीछा किया। नजदीकी रास्ते से आकर उसने जीप का रास्ता काटा और पुलिस से उसे गिरफ्तार करवाया। हीरो-हीरोइन का मिलन हुआ। शो खत्म हुआ।

सत्तय्या को ऊंची क्लास का टिकट कटाने का अफसोस हुआ। काश, वह अपनी फर्शनीशन क्लास में जा बैठता तो जी भरकर सीटी बजा सकता था, खासकर क्लब डांस के सीन में वह हमेशा मुंह से सीटियां निकालता था। उसकी ओर किसी की नजर नहीं पड़ती थी। किसी की भी नजर में वह नहीं आता था। लेकिन ऊंची क्लास का माहौल ही कुछ अलग है। यहां वह जी भरकर सीटी

तभी उसने एक विजयी दल को धूल उड़ाते आते देखा। वह इस दृश्य पर अधिकार कर लेना चाहता था। परंतु जैसे-जैसे वे नजदीक आए, उसने देखा, वे फ्रेंच नहीं प्रशियन हैं और जब उसने पेरिस के घरों के दरवाजे खिड़कियों को बंद होते देखा तो उसे लगा, उसके साथ धोखा हुआ है। तभी हम लोगों ने पीड़ा से भरी रोने की आवाज सुनी और उसके बाद चार जर्मन सिपाहियों ने वृद्ध को लड़खड़ाकर गिरते हुए देखा। इस बार कर्नल जूव ने पूर्ण रूप से प्राण त्याग दिए थे। □

एक समय था जो अभी भी है

चमन लाल

एक हजार वर्ष की हिंदी कविता की परंपरा में कुछ ही नाम ऐसे हैं जो आने वाले पीढ़ियों के लिए प्रेरणास्रोत बनकर हमेशा हर युग के कवियों में अपनी उपस्थिति दर्ज करवाते चलते हैं। आधुनिक कविता के संदर्भ में देखें तो तीन ऐसे नाम उभरकर सामने आते हैं, जिनकी कविता ने उन कवियों के समकालीनों को भी व बाद के कवियों को भी समान रूप से प्रभावित किया है तथा जो इस समय हिंदी कविता में सशरीर उपस्थित न रहकर भी अपनी कविता व उसके प्रभाव के माध्यम से सर्वाधिक उपस्थित हैं। ये तीन कवि हैं—निराला, मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय।

ऐसी क्या बात है जो किसी कवि या लेखक को इस हद तक जरूरी व महत्वपूर्ण बना देती है कि बिना उसकी रचना से दो-चार हुए हम आगे न बढ़ सकें। ऐसे कवि या लेखक से हम भले ही सहमत हों या असहमत, लेकिन उसकी रचनाशीलता से अपने आप को बचाकर न निकल सकें। क्या इन कवियों या लेखकों के शिल्प या शैली में ऐसी चामत्कारिक आकर्षणशक्ति है कि अपने पाठकों को अपने से बांधकर रख ले? या शिल्प या शैली से ज्यादा उस लेखन में जो जीवन प्रस्तुत हुआ है, वह इस हद तक बांधने वाला है कि उससे चाहकर भी आंखें न मूंदी जा सकें? क्या निराला और मुक्तिबोध में प्राकृतिक सौंदर्य के लुभावने चित्रण ने उन्हें अपरिहार्य कवि बना दिया है या उसके द्वारा चित्रण जीवन की विद्रूपताओं व क्रूरताओं में कुछ ऐसा बांधने वाला तत्व है जो पाठक को उससे हटने नहीं देता?

रघुवीर सहाय के काव्य कर्म का किशोरवय में जब प्रस्फुटन हुआ तो उसमें किशोरवय जन्य उदासी के साथ प्रकृति का बड़ा मोहक चित्रण भी है, किंतु ज्यों-ज्यों उनका काव्य कर्म जीवन के कटु, कठोर अनुभवों को समेटे विकसित होता है तो उसमें जीवन के वही सब बहुत सारे दुख व बहुत ही थोड़े से सुख उभड़ने लगते हैं जो मुक्तिबोध की कविता के भी अनिवार्य अंग व केंद्रीय तत्व हैं। 1965-70 के आसपास से लेकर 1980-85 तक मुक्तिबोध हिंदी कविता व हिंदी कवियों की चेतना पर ऐसे आए रहे कि हर कवि को अपना रास्ता तलाशने से पहले मुक्तिबोध के छोड़े अवोध्य-अगम्य पठारों से गुजरना पड़ता था और जो कवि इन कठिन कंटीले रास्तों से डर जाते थे वे कविताई छोड़ भाग खड़े होते थे, जो कवि इन कंटीले रास्तों से बचकर अपने स्वप्न संसारों का सृजन करते थे तो उनकी कविता भी रात भर के स्वप्नों की उम्र की भांति ही तिरोहित हो जाती थी।

सन् 1980-85 के बाद की देश की व विशेषतः हिंदी प्रदेशों की सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों ने जो करवट ली, उनमें मुक्तिबोध तो अप्रासंगिक नहीं हुए लेकिन एक और कवि उनके साथ अनिवार्य रूप से जुड़ गए। वह कवि थे—रघुवीर सहाय। कविता लिखना तो रघुवीर सहाय ने सत्रह साल से भी कम आयु में शुरू कर दिया था, जैसे कि कवि की उपलब्ध पहली कविता - 'अंत का प्रारंभ' (22.8.46, संकलन - प्रतिनिधि कविताएं) से जाहिर है, लेकिन एक महत्वपूर्ण कवि के रूप में रघुवीर सहाय चर्चित हुए आत्महत्या के विरुद्ध के प्रकाशन से, जो 1967 में प्रकाशित हुई और जिसमें उनके 1957-67 के दस वर्षों की कविताएं संकलित हैं।

भारतीय समाज में यह वह दौर था जब नेहरू युग के आजादी और समाजवाद के सपनों से भारतीय जनता का मोहभंग हो रहा था, समाज में उधल-पुधल की सुगबुगाहट थी व एक निराशा के अवसाद का माहौल समाज में पनप रहा था। रघुवीर सहाय की कविताएं इससे पहले अज्ञेय द्वारा संपादित दूसरा सप्तक में छप चुकी थीं व उनके अपने स्वतंत्र बहु विधागत संकलन सीढ़ियों पर धूप में भी। सुरेश शर्मा ने प्रतिनिधि कविताएं संकलन में रघुवीर सहाय के पूरे काव्य कर्म के विभिन्न पड़ावों को अलग-अलग संकलनों से कविताएं संकलित कर रेखांकित किया है। यह उनकी कोशिश रही है कि प्रतिनिधि कविताएं में संकलित 143 कविताओं द्वारा वह रघुवीर सहाय के कवि कर्म का समग्र रूप प्रस्तुत कर सकें। मोटे रूप में सुरेश शर्मा ने रघुवीर सहाय के सौंदर्यशास्त्र को 'खबर का सौंदर्यशास्त्र' माना है। उनकी भाषा को 'खबर की भाषा' और कविताओं की विषयवस्तु को 'खबरधर्मी'। संभवतः संपादक ने रघुवीर सहाय के रचना कर्म को खबर केंद्रित कहकर कुछ हद तक सीमित कर दिया है।

रघुवीर सहाय पत्रकारिता के पेशे से जुड़े थे जैसे कि अन्य अनेक हिंदी कवि भी इस पेशे से जुड़े हैं, लेकिन जिस तरीके से रघुवीर सहाय ने पत्रकारिता को सामान्य जीवन का, उसके दुख-सुख का संग्राहक तत्व बनाया और उससे जीवन का सार तत्व ग्रहण कर उसे कविता में ढाला, वैसा कर पाना सभी कवियों के लिए संभव नहीं रहा। इसका सबसे बड़ा कारण उनका मुक्तिबोध की ही तरह सामान्य जन के जीवन संघर्षों के प्रति अतिशय संवेदनशीलता सामान्य जन के प्रति हार्दिक लगाव के कारण ही संभव हो सका है। वास्तव में जो सवाल हमने पहले उठाए कि कैसे कोई कवि या लेखक अपनी रचनाशीलता द्वारा समाज और साहित्य के इतिहास में अपनी उपस्थिति दर्ज करवा जाता है तो उसका जवाब सामान्य जन के संघर्षों, दुखों-सुखों के प्रति संवेदना व लगाव में ही निहित है। प्रेमचंद हों या रेणु, मुक्तिबोध हों या रघुवीर सहाय, उनका साहित्य अपने आसपास के जीवन में फैले दुखों, पीड़ाओं व संघर्षों की कभी न खत्म होने वाली कथा कहता है। कवि-लेखक के अपने

एक समय था तथा प्रतिनिधि कविताएं : रघुवीर सहाय; दोनों के संपादक : सुरेश शर्मा; राजकमल प्रकाशन; नई दिल्ली; पृ. 152 व 162। मूल्य : 120.00 रु. तथा 122.00 रु.।

व्यक्तिगत दुख-सुख भी उसी व्यापक जन के दुखों-सुखों के संसार का अभिन्न अंग बन जाते हैं और इन कवि-लेखकों को एक विराट व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। जिस प्रकार कृष्ण की मिथक कथा में कृष्ण के सीने में पूरा ब्रह्मांड दिखाई देता है, जिससे कृष्ण का विराट नायकत्व सामने आता है उसी प्रकार किसी भी भाषा के कवि या लेखक का रचनात्मक व्यक्तित्व उतना ही विराट या लघु है जितना उनकी रचनाशीलता में सामान्य जन का जीवन—जिसमें उसका प्रकृति से जुड़ा जीवन भी शामिल है—नजर आता है। निराला, मुक्तिबोध या रघुवीर सहाय का काव्य व्यक्तित्व इसलिए विराट है, क्योंकि उसमें व्यापक जन के दुख-सुख अपने बहुरंगी रूपों में समाहित हैं, यहां तक कि प्रकृति के विविध रूप भी।

रघुवीर सहाय की काव्य संवेदना में केंद्रीय तत्व है—मनुष्य की मनुष्यता और मनुष्य का अपनी मनुष्यता को अपने संपूर्ण रूप में हासिल कर सकने का अधिकार। किंतु परिस्थितियां ऐसी हैं कि मनुष्य को यह अधिकार प्राप्त नहीं है। 1952 में अपनी कविता 'हमने यह देखा' की अंतिम पंक्तियां हैं:

हमको तो अपने सब हक मिलने चाहिए
हम तो सारा का सारा लेंगे जीवन
कम से कम वाली बात न हमसे कहिए।

(प्रतिनिधि कविताएं, पृ. 28)

वास्तव में 23 वर्ष की आयु में लिखी रघुवीर सहाय की ये पंक्तियां उनकी काव्य चेतना की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति हैं, किंतु विडंबना यह है कि उनके जीवन में सामाजिक परिस्थितियां ऐसी रहीं, वरन बद से बदतर होती रहीं कि वह एक भी ऐसी कविता का सृजन नहीं कर पाए, जिसमें उनकी यह अधिकार चेतना सामाजिक स्तर पर साकार रूप ले पाती, इसलिए उनकी तमाम कविताएं उन परिस्थितियों के कटु यथार्थ को अपनी पूरी शक्ति से अंकित करती हैं, जो मनुष्य से उसका यह मूल हक—सम्मानपूर्वक जीने का हक—छीने हुए है।

स्त्री के प्रति कवि की संवेदना *सीढ़ियों पर धूप* में से ही अभिव्यक्त हो जाती है। 'पढ़िए मीता' तो उनकी बहुपठित-बहुश्रुत कविता इन ही गई है। इस क्रम में 'नारी' कविता भी पुरुष केंद्रित समाज में नारी की स्थिति का चित्र है। *आत्महत्या के विरुद्ध* संकलन से संपादक ने रघुवीर सहाय की स्त्री की स्थिति पर केंद्रित जो कविताएं दी हैं, उनमें 'अभी तक खड़ी स्त्री', 'चढ़ती स्त्री', 'तेरे कंधे' शामिल हैं। *हंसो हंसो जल्दी हंसो* संकलन से 'औरत की जिंदगी', 'बड़ी हो रही है लड़की', 'अकेली औरत' आदि। कवि का शायद ही कोई ऐसा संकलन हो जिसमें स्त्री को लेकर अनेक कविताएं संकलित नहीं हों। रघुवीर सहाय ने स्त्री संबंधी जितनी कविताएं लिखी हैं, उनका एक स्वतंत्र संकलन बन सकता है। रघुवीर सहाय की स्त्री संबंधी कविताएं उसकी देहयष्टि, उसकी मांसलता, पुरुष की दृष्टि से उसकी सुंदरता पर नहीं लिखी गई हैं, बल्कि हमारे समाज में स्त्री की स्थिति, उस पर होते अत्याचारों की व्यथा-कथा इन कविताओं में पूरी करुणा, किंतु बिना भावुकता के उभरकर सामने आती है। यहां तक कि पत्नी के प्रति जिस चिंता से रघुवीर सहाय ने लिखा है, उसमें पति-पत्नी के गहरे प्रेम का ऐसा आत्मिक चित्र उभरता है कि जिसकी धाह्य वही पा सकते हैं

जिनका हृदय सहज और सरल है और जिन्होंने कभी जीवन में निश्छल प्रेम किया व प्राप्त किया है। इस संदर्भ में कवि की स्त्री संबंधी करुणा, उनके जीवन की अंतिम कविता—जो उन्होंने मृत्यु से कुल पांच ही दिन पहले लिखी—में देखी जा सकती है:

थकी हुई औरत के चेहरे की सिकुड़नें
किसी एक परिवार की लंबी मुश्किलों की
आड़ी सतहें हैं
उनकी लिखावट कुछ अलग दूसरों से है
क्योंकि परिवार के पुरखों ने अलग-अलग
भाषाएं लिख दी हैं।

(‘एक समय था’, प्रतिनिधि कविताएं)

रघुवीर सहाय के काव्य कर्म का अन्य सरोकार आजादी के बाद स्थापित राजनीतिक व्यवस्था में आम आदमी की स्थिति है। वास्तव में राजनीतिक व्यवस्था के व्यावहारिक रूप, जिसमें हिंदी की स्थिति भी शामिल है और आमआदमी का आतंक से भरा जीवन भी, इन सब स्थितियों को रघुवीर सहाय ने ऐसा समुचित रूप दिया है कि इसी से वे मुक्तिबोध की कविता के अगले पड़ाव व एक महान कवि के स्तर को छू लेते हैं। हिंदी भाषा से उनका लगाव हिंदी राष्ट्रवाद का पर्याय नहीं है, बल्कि इसलिए है कि हिंदी आम आदमी की भाषा है और आम आदमी अपने दुख-सुख इसी भाषा में अभिव्यक्त कर पाता है जो कि कवि का अपना अनुभव क्षेत्र है। हिंदी को लेकर उन्होंने जो अनेक कविताएं लिखी हैं वे व्यंग्य की तीखी धार भी लिए हुए हैं जैसे 'हमारी हिंदी' में हिंदी की उपमा दुहाजू की नई बीबी से करना। गंभीर रूप से वह हिंदी की दासता उसी हालत में मिटी देखते हैं, जिस हालत में—जो हिंदी बोलकर रख देगा हिरदै निरक्षर का खोलकर।

रघुवीर सहाय ने सर्वाधिक कविताएं व्यवस्था के आतंककारी व तिकड़मी रूप तथा इस व्यवस्था में आम आदमी की असह्य व असहाय स्थिति को उघाड़ने के लिए लिखी हैं। 'अधिनायक' कविता में वह प्रश्न करते हैं कि 'भारत भाग्य विधाता' कौन है, जिसका गुन फटे सुथन्ने वाला भारतीय ('हर घटना') गाता है। लेकिन इस जनता पर उन्हें क्रोध भी है कि वह सब कुछ चुपचाप सहती रहती है। 'आत्महत्या के विरुद्ध' रघुवीर सहाय की सशक्त कविता है, जिसमें वह अन्याय व अत्याचार के विडंबनापूर्ण चित्र ही नहीं खींचते, इसका प्रतिरोध करने का आह्वान भी करते हैं और इसके लिए वह स्वयं को ही संबोधित करते हैं :

कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूंगा
न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का मेरे अंदर
एक कायर टूटेगा टूट
मेरे मन टूट एक बार सही तरह
अच्छी तरह टूट मत झूठमूठ ऊब मत रूठ

हंसो हंसो जल्दी हंसो संग्रह में उनकी 1970 से 1975 के बीच की कविताएं हैं। भारतीय समाज में यह दौर फासीवादी प्रवृत्तियों के पनपने व जोर पकड़ने का दौर है, जिसकी परिणति 1975 की आपातस्थिति में हुई। इस दौर के राजनीतिक-सामाजिक माहौल की जैसी अभिव्यक्ति रघुवीर सहाय की कविता में हुई है



वैसी न तो अन्य किसी हिंदी कवि में हुई है और न ही रघुवीर सहाय की अपने पहले की या बाद की कविता में हुई है। इस अर्थ में यह रघुवीर सहाय का सर्वश्रेष्ठ काव्य संग्रह है, भले ही पुरस्कार उन्हें किसी अन्य संग्रह पर मिला हो।

इस संग्रह में उनकी 'पानी पानी' जैसी गीतात्मक कविताएं भी हैं, जो जिस जन सामान्य के लिए लिखी गई हैं वह भी आसानी से समझ सकता है व इससे खुद को जोड़कर देख सकता है और इसमें मध्यवर्ग द्वारा शासक वर्ग के तलवे चाटने व टुकड़े खाने की शर्मनाक स्थितियों का चित्रण भी पूरी तीव्रता से अंकित है :

इस लज्जित और पराजित युग में
कहीं से ले आओ वह दिमाग
जो खुशामद आदतन नहीं करता।

(प्रतिनिधि कविताएं, पृ. 78)

संग्रह की सबसे सशक्त कविताएं हैं—'हंसो हंसो जल्दी हंसो', व 'रामदास'। 'हंसो हंसो जल्दी हंसो' चाटुकार मध्यवर्ग की दयनीय स्थिति का अंकन है तो 'रामदास' जनसामान्य की रोज होती हत्याओं की नियति का।

लोग भूल गए हैं पर रघुवीर सहाय को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला जिसमें रघुवीर जी की कुछ अपेक्षाकृत लंबी कविताएं भी शामिल हैं। कुछ पते कुछ चिट्ठियां उनके जीवन काल में छपा उनका अंतिम काव्य संग्रह है जिसमें 1983 से 89 के बीच की कविताएं संकलित हैं। प्रतिनिधि कविताएं में इन सभी संकलनों से व साथ ही उनके अंतिम काव्य संकलन एक समय था जो प्रतिनिधि कविताएं छपने के कुछ बाद छपा, की कविताएं भी संकलित हैं।

कुल मिलाकर प्रतिनिधि कविताएं से रघुवीर सहाय का ऐसा कवि विंव उभरकर सामने आता है जो गहरे में मानवीय करुणा से भरपूर है, जो उनके काव्य व व्यक्तित्व का केंद्रीय तत्व था। संपादक ने अपनी भूमिका को 'कविता में लिखी खबरों' का शीर्षक देकर रघुवीर सहाय की काव्य विशेषता अंकित करने का प्रयास किया है जो संभवतः रघुवीर सहाय की विराटता को सीमाओं में बांधने वाला है।

एक समय था का संकलन-संपादन भी सुरेश शर्मा ने ही किया है। इस संकलन की अपनी भूमिका को उन्होंने 'ये अंतिम कविताएं' शीर्षक दिया है। रघुवीर सहाय की अंतिम कविताओं को वे उनके संपूर्ण कविता लेखन का उपसंहार कहते हैं, लेकिन इस संकलन में 1972 से 1989 तक की भी अनेक कविताएं संकलित हैं जो रघुवीर सहाय ने स्वयं अपने जीवन में किसी संकलन में संकलित नहीं की थीं। बाकी कविताएं कुछ पते कुछ चिट्ठियां के बाद की यानी 1989-90 की ही हैं। संकलन में कुल 178 कविताएं संकलित हैं और इसके छप जाने से रघुवीर सहाय का रचा संपूर्ण काव्य संसार पाठकों के सामने आ गया है। इस अर्थ में संपादक की उपसंहार की टिप्पणी सही है कि इस संकलन में उनके वही सारे सरोकार शामिल हैं जो उनके पिछले संकलनों में लगातार मिलते हैं अर्थात् सामान्य जन और उसमें भी विशेष स्त्री की स्थिति, विकृत-भ्रष्ट राजनीतिक व्यवस्था इत्यादि। सिर्फ इन स्थितियों में एक बड़ी व्यक्तिगत स्थिति साथ जुड़ जाती है और वह है कवि को मृत्यु का पूर्वाभास और उस पूर्वाभास के प्रति सचेत होकर आसन्न मृत्यु के स्वीकार की कविताएं। मृत्यु के इस स्वीकार में न कहीं असुरक्षा का बोध है न भय का, न विह्वलता है और न ही अतिरिक्त चिंता। एक सहज, सामान्य घटने वाले तथ्य के रूप में वह स्वयं को संभावित मृत्यु के आगमन के लिए

मानसिक रूप से तैयार कर चुके थे। मृत्यु के प्रति ऐसी सचेत कविताएं, वह भी इतनी कम उम्र में (साठ वर्ष की उम्र) लगभग असंभवप्राय हैं और रघुवीर सहाय ने यह अत्यंत विशिष्ट किस्म की रचना हिंदी कविता को दी है।

संकलन की प्रथम कविता 'आत्महत्या के विरुद्ध' (85) अपनी इसी शीर्षक की तीस वर्ष पुरानी कविता जैसी ही सशक्त कविता है—यह युग है जिसका अंत हमें दिखता है। पर अगले युग का आरंभ नहीं जानते। ('एक समय था' पृ. 14)। 1960-65 से शुरू हुई राजनीतिक पतन की स्थितियां अब वहां पहुंच गई हैं, जहां :

कर्महीन लोकतंत्र की मदद करता है विध्वंसक लोकतंत्र
दोनों मिलकर विचारधारा चलाते हैं
कि कोई विचार नहीं हत्या ही सत्य है।

(एक समय था, पृ. 16)

संपादक ने 1972-90 के बीच की विखरी कविताओं का संकलन-संपादन काल-क्रम की दृष्टि से नहीं किया है। एक कविता 1972 की है तो अगली 1990 की नजर आती है। जनवरी, 1972 की एक बहुत सशक्त कविता 'गुलामी' में 'अपनों की गुलामी विदेशियों की गुलामी से बेहतर है' की व्यंजना द्वारा 1947 से पहले व बाद में भारतीय जन की स्थिति को अंकित करती है। संकलन में 'अशोक वाजपेयी की याद' शीर्षक से ऐसी कविता भी संकलित की गई है जो कवि की अपनी रचना न होकर अशोक वाजपेयी की भिन्न-भिन्न कविताओं के टुकड़ों को जोड़कर कवि ने अपनी डायरी में नोट कर रखी होगी। शायद इस प्रकार के व्यक्तिगत नोट्स को कविता रूप में संकलित करने का यहां औचित्य नहीं था। अक्टूबर 1990 में रची कवि की रचना 'किताब पढ़कर रोना' जीवन और साहित्य के संबंधों को अपनी सृजनशीलता में इतने सुंदर रूप से सामने लाती है कि सिद्धांतों की पूरी पुस्तक भी न ला सके।

1988 से 1990 के बीच कवि ने ऐसी कई कविताएं लिखीं जिनमें मृत्यु के करीब आने का आभास है। 1990 में वह लिखते हैं : मुझे अभी जीना है कविता के लिए नहीं/कुछ करने के लिए कि मेरी संतान कुत्ते की मौत न मरे।

(एक समय था, पृ. 143)

लेकिन 1990 में ही वह अपनी पत्नी विमलेश्वरी सहाय (बटूटूजी के लिए) कह रहे हैं :

हममें से किसी को न जाने कब
जाना पड़ सकता है
हम दोनों अकेले रह जाने को
तैयार नहीं।

(वही, पृ. 144)

1990 में ही रचित 'चुपचाप' में भी दोनों में कोई एक दुनिया को अकेले झेलने को अभिशप्त है।

वास्तव में कवि को स्वयं अपनी निकट आती मृत्यु का एहसास है, पत्नी को तो वह संभवतः मानसिक रूप से तैयार करने के लिए ही दोनों की बात

पृष्ठ 48 पर जारी

असंवेदनशील व्यवस्था से रू-ब-रू

त्रिशूल : शिवमूर्ति; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; मूल्य : 75 रुपये; पृष्ठ संख्या : 136

शिवमूर्ति का उपन्यास त्रिशूल राम जन्मभूमि विवाद तथा इस विवाद के उत्पन्न हुए संदर्भों, घटनाओं को केंद्र में रखकर लिखा गया है। राम जन्मभूमि विवाद के कारण हुए दंगों के दौरान विकसित मानसिकता, उसकी आधारभूमि की पकड़ इस उपन्यास की कथा के केंद्र में है। इन घटनाओं, संदर्भों, मानसिकता का विश्लेषण करते समय तात्कालिक समस्याओं को केंद्र में रखते हुए भी वह समग्र परिवेश की व्याख्या करते हैं। पूरे उपन्यास के यथार्थ के प्रवाह से स्मृतियां विकसित होती हैं और उपन्यास के प्रभाव को व्यापक बनाती हैं।

पिछले कुछ वर्षों से देश में ऐसा सांप्रदायिक माहौल बना जिसके रहते एक सांप्रदायिक सोच हमारे जीवन में विकसित हुई और इस सोच ने मध्यवर्ग को अपनी गिरफ्त में किसी अजगर की तरह लपेट लिया है और यह विश्वास हिल-सा गया है कि हिंदू और मुसलमान दोनों के धरातल एक हैं, दोनों की सोच एक हैं, दोनों के जीवन-संघर्ष एक हैं, दोनों की समस्याएं एक हैं, दोनों सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के तहत पीसे जा रहे हैं।

उपन्यास की कहानी कुल इतनी-सी है कि उपन्यास का प्रमुख चरित्र 'मैं' तवादले पर इस शहर में आया है। उनके पास घर के सदस्य जैसा एक नौकर है — महमूद। उसे घर के सभी लोग दिलोजान से चाहते हैं। अपने आत्मीय और स्नेह व्यवहार से यह महमूद मोहल्ले के सभी लोगों के घरेलू काम बड़े शौक और चाव से करता है। पड़ोसी शास्त्री जी के परिवार में विशेष रूप से हिल-मिल गया है। राम जन्मभूमि विवाद के कारण जब देश में सांप्रदायिक माहौल तैयार होता है, सांप्रदायिक होकर लोग सोचते हैं, ऐसे परिवेश में

जब लोगों को यह एहसास होता है कि उनके मोहल्ले में रहने वाला, उनके घरों का काम करने वाला लड़का महमूद मुसलमान है तो महमूद के प्रति उनकी सोच बदल जाती है। शास्त्री जी व अन्य लोग 'मैं' से आग्रह करते हैं, "आप मोहल्ले में सांप के बच्चे को पाल रहे हैं।" और जब सांप्रदायिक उन्माद पूरे जोरों पर होता है तब शास्त्री जी महमूद पर यह आरोप लगाकर उसे पुलिस के हवाले कर देते हैं कि महमूद ने ही उनके पोते का अपहरण किया है। 'मैं' और उसका पूरा परिवार महमूद के गिरफ्तार होने से परेशान है। 'मैं' तमाम कोशिशों के बावजूद महमूद को पुलिस की गिरफ्त से छुड़ा सकने में सफल होता है लेकिन पुलिस महमूद को उनके हवाले न कर मस्जिद के हवाले करती है। मस्जिद में 'काला पहाड़' जैसे तत्वों द्वारा 'मैं' की पिटाई की जाती है और अंत में महमूद अपने गांव की ओर चल देता है लेकिन वह गांव पहुंचा या नहीं या 'काला पहाड़' जैसे असामाजिक तत्वों के साथ मिल गया, यह प्रश्न अनुत्तरित है।

इसी के समानांतर गायक पाले की कथा है जो लोकगीतों और लोकधुनों के सहारे अच्छी जातियों के विरुद्ध लोगों को तैयार करता है, आम सभाएं करता है, और नीची जातियों के शोषण की लंबी परंपरा के विरुद्ध लोगों को लामबंद करने का आह्वान करता है और अंत में धोखे से उसकी हत्या कर दी जाती है।

उपन्यास का पूरा ताना-बाना चरित्रों के माध्यम से बुना गया है। उपन्यास का प्रमुख चरित्र शास्त्री जी का है जिनका परिचय हिंदू के रूप में होता है। उनके सारे तर्क हिंदूवादी पार्टी के तर्क हैं और जो इस भय से पीड़ित हैं कि मुसलमान की बढ़ती हुई आवादी से पचास साल में देश का

संविधान बदला जा सकता है और भारतवर्ष को 'इस्लामिक कंट्री' घोषित किया जा सकता है और इस भय से मुक्ति पाने के लिए वह न सिर्फ मुसलमानों को देश से निकालने के पक्ष में हैं बल्कि तमाम मस्जिदों को नेस्तनाबूद कर देना चाहते हैं। वह धर्म और जाति के आधार पर व्यक्तियों की पहचान करते हैं। उन्हें जब पता चलता है कि महमूद मुसलमान है तो उसके प्रति उनका नजरिया ही बदल जाता है। वह उसे बच्चा नहीं, बीस साल का मुसल्ला समझते हैं। उसे पाकिस्तानी एजेंट करार देते हैं और मानते हैं कि यह मस्जिद के अंदर मिलकर दंगाइयों के साथ साजिश करता है। वह महमूद को घर से बारह निकालने का आग्रह करते हैं। अपने पोते के अपहरण के आरोप में उसे पुलिस के हवाले करवा देते हैं और संतुष्ट होते हैं। उनके चेहरे पर पोते के अपहरण होने का कोई दुख-संताप नहीं है।

दूसरा चरित्र 'मैं' का है जो शास्त्री जी जैसी सांप्रदायिक ताकतों के विरुद्ध चट्टान की तरह खड़ा है। ईश्वर संबंधी तमाम धारणाओं का वैज्ञानिकता से विश्लेषण करता है और मानता है कि ईश्वर और धर्म का उपयोग हराम की कमाई खाने और परस्पर घृणा फैलाने के लिए किया जा रहा है। राम जन्मभूमि के मामले में निहित स्वार्थी शक्तियों के चरित्र को वह स्पष्ट करता है, वैज्ञानिक सोच उसमें विद्यमान है। शास्त्री जी द्वारा महमूद को गिरफ्तार कराने पर उसे छुड़ाने की जी-जान से कोशिश करता है। 'काला पहाड़' जैसे मुस्लिम गुंडों से पीटा जाता है और अंत में अपने आप को अकेला महसूस करता है।

यह उपन्यास वर्तमान जाति के आधारों पर बंटे सांप्रदायिक होते समाज के कार्य-कारण की खोज करता हुआ सांप्रदायिक और जातीय शक्तियों के चरित्र को सामने लाता है। सांप्रदायिक शक्तियों ने सत्ता के जंगल तक पहुंचने के लिए लोगों की सोच के भीतरी पर्तों को किस तरह कुंद और संकीर्ण बना दिया है, इसका संकेत यह उपन्यास है।

सामाजिक न्याय के आधार पर धर्म को केंद्र में न रखकर जिस सोच और अनुभव को लेकर हमने सामाजिक विकास की दिशा तय करने का संकल्प लिया था, न तो आज ऐसा संकल्प है और न ही ऐसी दिशा, उसके लिए समाज में बुनियादी ढांचे में परिवर्तन करना जरूरी था, आर्थिक विकास की प्रक्रिया में सबको सहभोगी बनाना जरूरी था, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक विकास की आधार भूमि तलाश करना जरूरी था लेकिन ऐसा न हो सका और ऐसा सांप्रदायिक और जातीय परिवेश

विकसित हुआ और जिनके बीच से निकलता है *त्रिशूल* जैसा उपन्यास। उपन्यास पढ़ते हुए उस विडंबना का एहसास होता है जिसके तहत सांप्रदायिकता आम मनुष्य के जीवन को अपने घेरे में लेती है। सांप्रदायिक ताकतों से लड़ने वाला उपन्यास का प्रमुख पात्र अंत में अकेला पड़ जाता

है पर तमाम पराजय के बावजूद सांप्रदायिक शक्तियों से लड़ने की उसकी इच्छा बनी रहती है।

शिवमूर्ति का यह उपन्यास हिंसक और असंवेदशील होती जा रही एक व्यवस्था को देखता है। इसमें महत्वपूर्ण है लेखक की दृष्टि।

प्रेम की मार्मिकता

चार दिन : राम विलास शर्मा; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; मूल्य : 40 रुपये; पृष्ठ संख्या : 64

प्रेम मनुष्य की भीतरी पर्तों तक पहुंचकर उसे उल्लसित करता है, उसे जीवन-जगत से जोड़ता है। मनुष्य प्रेम के सहारे समाज में अपने लिए एक जगह ढूंढता है। प्रेम बहुत ही सूक्ष्म और जटिल तरीके से मनुष्य के व्यवहार को प्रभावित, परिवर्तित करता गया। उपन्यास की मुख्य कथा नंदन और राजेश्वरी की है जिनके प्रेम में बाधक गांव की अर्धसामंती, शोषक विपमतायुक्त व्यवस्था है जहां विवाह से पहले प्रेम को सम्मानीय रूप में नहीं देखा जाता। और ऐसे प्रेम को तमाम नैतिकताओं में बांधकर उपहास और उपेक्षा के योग्य समझा जाता है। नंदन और राजेश्वरी की कथा ऐसे ही परिवेश में विकसित होती है। नंदन और राजेश्वरी अपने परिवार से छिपकर गांव के मेलों में, खेतों में मिलते हैं। विवाह से पूर्व ही राजेश्वरी एक बच्चे को जन्म देती है और गांव वाले राजेश्वरी को तिरस्कृत और अपमानित करते हैं। ऐसी स्थिति में नंदन स्वयं को अपमानित और

पराजित महसूस करता है। सामंती व्यवस्था के तहत नंदन और राजेश्वरी अपने आप को अकेला महसूस करते हैं।

उपन्यास के संवाद अवधी बोली में हैं जो कि ग्रामीण परिवेश को पूरी जीवंतता के साथ उद्घाटित करती है। अवधी के ये संवाद कहीं-कहीं संप्रेषणीयता में भी बाधक बनते हैं।

पूरा उपन्यास एक चिर परिचित फिल्म कथा की तरह चलता है लेकिन कथा में सतहीपन और सरलीकरण नहीं है। कथा में अनेक उतार-चढ़ाव है, सामंती व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करने की इच्छा है, गांव के मेलों में होने वाले विभिन्न जीवंत प्रसंग, घटनाएं हैं जो उपन्यास को मार्मिक और अर्थवान बनाती हैं। कुरती के प्रसंग हैं जो ग्रामीण परिवेश को जीवंत बनाते हैं। सीधी और सरल दिखने वाली इस कथा में प्रेम का अंतर्द्वंद्व है।

अत्यधिक जीवंत मार्मिक और अपनी मिट्टी से उपजी लगती हैं।

संग्रह की तीन कहानियां 'दरियाई घोड़ा', 'टेपचू', 'मूंगा धागा और आम का बौर' में मृत्यु की त्रासदायी पीड़ा, मृत्यु का भय, मृत्यु के विरुद्ध संघर्ष, उसकी स्वीकृत पूरी तरह उपस्थित है। मृत्यु उदय प्रकाश की कहानियों और कविताओं के केंद्र में है जैसे कि उन्होंने स्वयं 'आत्मकथा' में स्वीकार किया है। 'दरियाई घोड़ा' कहानी में मरणासन्न पिता भय, कौतूहल, अशक्तता, पारिवारिक जीवन संदर्भों के साथ मृत्यु को देख रहा है। पिता के प्रति अन्यतम लगाव, उनकी स्मृति यात्रा को बहुत ही सिद्धहस्तता से इस कहानी में चित्रित किया गया है।

उदय प्रकाश की इन कहानियों के केंद्र में हैं—परिवार, परिवार से जुड़े संदर्भ, वचन की स्मृतियां, ये सारे संदर्भ। और प्रसंग परस्पर संबद्ध हैं। रागात्मकता और संश्लिष्टता के साथ। 'मूंगा धागा और आम का बौर' कहानी में वचन की स्मृतियों के वर्णन, कहानी के प्रभाव को ज्यादा गहन बनाते हैं। 'टेपचू' कहानी के केंद्र में भी मृत्यु से संघर्ष है। पूरी कहानी फैंटसी के शिल्प में है। घटनाओं का वास्तविक द्वंद्व इस कहानी में है जिनके तहत टेपचू का चरित्र बनता है। दृश्य विधान का इस्तेमाल करते हुए उसका जीवन संघर्ष, जीवन के प्रति उसकी कसक परत-दर-परत खुलती है। कहानी का अंत उदय व्यापक फैलाव के साथ करते हैं।

उदय प्रकाश अपनी कहानियों में कथाओं, उप-कथाओं का इस्तेमाल करते हैं। 'मौसाजी', 'ददू तिवारी गणनाधिकारी', 'पुतला' इसी प्रकार की कहानियां हैं। इन सभी कहानियों में मूल कथा के समानांतर घटनाओं, प्रसंगों का विवरण विस्तार से आता है और ये सभी विवरण कथा के प्रभाव को और अधिक गहरा व व्यापक बनाते हैं। इन वर्णनों में रोचकता बनी रहती है और पूरी कहानी किसी दृश्य की तरह उजागर होती है। 'मौसाजी' व्यंग्यात्मक शैली में लिखी गई चरित्रप्रधान कहानी है। इस चरित्र के माध्यम से उदय प्रकाश निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति की जीवन की गहराइयों में झांकते हैं। यही शैली 'ददू तिवारी गणनाधिकारी' कहानी में भी देखने को मिलती है, जिसमें निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति की विद्रूपताओं, विसंगतियों की रोचकतापूर्ण वर्णन किया गया है। यह व्यंजनात्मक शैली उदय की कहानियों की विशिष्टता और संदर्भवत्ता को द्विगुणित करती है। व्यंजनात्मकता और काव्यत्मकता उदय की कहानियों का अन्यतम विशिष्टता है। यह विशिष्टता ही उदय को समकालीन कहानीकारों में उन्हें अत्यंत विशिष्ट, महत्वपूर्ण और अग्रणी बनाती है।

कहानी संग्रह

जीवन की रागात्मकता की कहानियां

दरियाई घोड़ा (पुनर्मुद्रण) : उदयप्रकाश; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली; मूल्य : 65 रुपये; पृष्ठ संख्या : 103

दरियाई घोड़ा उदयप्रकाश का पहला कहानी संग्रह है जो 1982 में प्रथम बार छपकर 1995 में राधाकृष्ण प्रकाशन से पुनः प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की सभी कहानियां काफी चर्चित रहीं और इन कहानियों के माध्यम से उदयप्रकाश ने समकालीन कहानी में विशिष्ट पहचान बनाई। इन कहानियों में उदय प्रकाश यथार्थ को विशेष तरह से देखते हैं और यह देखना ही उदय प्रकाश को

समकालीन कहानी में अत्यंत महत्वपूर्ण और विशिष्ट बनाता है। प्रत्येक कहानी में ग्रामीण परिवेश उस परिवेश से जुड़ी स्मृतियां, संदर्भ, घटनाएं रिश्तों की गहन रागात्मकता पूरी शिद्दत और गहराई के साथ उभरकर सामने आती है। यह ग्रामीण परिवेश और उस परिवेश से लगाव, कहानियों के संवेदनात्मक धरातल को नया आयाम और नए अर्थ देता है। इनसे कहानियां

संवेदनात्मक धरातल पर 'स्याह हाशिये'

स्याह हाशिये : काशी मुद्रणालय, उज्जैन; मूल्य : 15 रुपये।

स्याह हाशिये मध्य प्रदेश के 56 लेखकों की लघु कथाओं का संकलन है। इसमें संकलित सभी लघुकथाएं आज के परिवेशगत यथार्थ, उस यथार्थ के अंतर्विरोधी स्वरूप तथा उस अंतर्विरोधी स्वरूप के तहत विकसित मूल्यों को उद्घाटित करती हैं। ये रचनाएं एक-तरफ सामाजिक-आर्थिक संदर्भों को सामने लाती हैं तो दूसरी ओर सांप्रदायिक विरोध और सांप्रदायिकता के मूल में काम कर रही राजनीति को भी रेखांकित करती हैं। मानवीय संबंधों में आई दरारों को भी संग्रह की कुछ रचनाएं सशक्त ढंग से अभिव्यक्त करती हैं।

संग्रह की सबसे अहम विशेषता यह है कि सभी लघुकथाएं आम आदमी को केंद्र में रखकर ही लिखी गई हैं। देखने में वे संदर्भ अत्यंत मामूली हैं पर इन मामूली संदर्भों को रचनाकार संवेदनात्मक धरातल पर प्रस्तुत करते हैं। संवेदना और यथार्थ के परस्पर टकराहट की प्रक्रिया से ये रचनाकार सामाजिक-आर्थिक स्थितियों पर व्यंग्य करते हैं। व्यंग्य करने की यह शैली, यह मूल्यबोध ही *स्याह हाशिये* को एक महत्वपूर्ण कृति बनाती है।

संग्रह की कुछ रचनाएं सांप्रदायिक संदर्भों पर केंद्रित हैं। 'भगवान विभिन्न' (कमल चोपड़ा), 'धीरज' (जयंत जोशी), 'आखिर दीवार क्यों' (मणि खेडेकर), 'परीक्षा की घड़ी' (अजय पालीवाल नरेश), 'महत्व लोलुप' (गजानन देशमुख) 'रंग बदरंग' (ब्रजेश कानूनगो)—ये रचनाएं सांप्रदायिकता के दौरान व्यक्ति की मनःस्थिति के विभिन्न आयामों को उद्घाटित करती हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि सभी लघुकथाएं स्थितियों का विवरण न देकर सांकेतिकता में अपनी बात कहती हैं जो कि इन रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता है।

यथार्थ के अंतर्विरोधी स्वरूप को उद्घाटित करने की प्रक्रिया में परस्पर दो विरोधी स्थितियों को आमने-सामने रखकर व्यंग्य करने का कुशल प्रयोग इन लघुकथाओं में देखने को मिलता है। 'मां' (स्वामीनाथ पांडेय), 'सिंदूर' (सचिन अमीन), 'अंतर' (वंदना नागर), 'ठिठुरती संवेदना' (सत्यनारायण पटेल), 'संक्रामक' (के. रंजीत दमन), 'सौदा' (दीप्ति नवल), 'कागज के फूल' (पारस वासीत), 'बंटवारा' (पुष्पा उर्प्रे), 'आइना'

(हरीशकुमार सिंह), 'संस्कार' (रमेशचंद्र शर्मा), 'एक्सीडेंट' (वेद हिमांशु)—परिवेश को उद्घाटित करने में ये रचनाएं संतर्क बोध का सहारा लेती हैं और मानवीय मूल्यों की पक्षधरता में अपना विश्वास व्यक्त करती हैं।

संग्रह की कुछ रचनाएं आर्थिक अभावों से ग्रस्त आम आदमी की कारुणिक कथा का संकेत करती हैं। आजादी के बाद आम आदमी आर्थिक रूप से निरंतर विपन्नता की ओर अग्रसर होता गया। ये रचनाएं एक ओर उस विपन्नता को उजागर करती हैं तो दूसरी ओर उस विपन्नता के लिए जिम्मेदार राजनीति, राजनेताओं पर भी उंगली उठाती हैं। 'खिलौने' (अशोक आनन), 'भूकंप'

(गिरधर अकेला राठौड़), 'मीठी होती है, सत्ता' (हरि जोशी), 'मुखौटों का बादशाह' (शैलेंद्र पाराशर), 'जुगाड़' (नरेंद्र सिंह बैस), आदि रचनाएं उस राजनीति के विरोध में अपनी आवाज दर्ज करती हैं जो आम आदमी को बदहाली की ओर ले जा रही है।

ये सभी रचनाएं आज की मूल्यहीनता, विसंगतियों, विडंबनाओं की ओर पात्रों का ध्यान आकर्षित करती हैं। धर्म को व्यवसाय बनाकर चलने की मानसिकता को लेकर लिखी गई संग्रह में एक मात्र रचना है और वह है शशांक दुबे की 'अंदर की बात'। इस रचना को कई दृष्टियों से संग्रह की विशिष्ट रचना कहा जा सकता है। एक है सांकेतिकता, जिसके माध्यम से पात्र द्वारा धर्म का सहारा लेकर फलने-फूलने का चित्रण किया गया है और दूसरी है इसकी भाषा। इसकी भाषा में एक ऐसी रवानगी है जो संदर्भों को सही परिप्रेक्ष्य में सामने रखती है।

—हरियश राय

पर्वतारोहण

प्रकृति की ओर

हिमालय की ओर : सुरेश ब्याला; मोनाल प्रकाशन, देहरादून; मूल्य : दो सौ रुपये; पृष्ठ संख्या : 200।

पहाड़ और समुद्र प्रकृति के दो अन्यतम, अद्भुत और आकर्षण से भरे उपहार हैं। किसी को समुद्र के पल-प्रतिपल बदलते मूड, उसकी अतल गहराई और असीम विस्तार अपनी ओर खींचते हैं तो कोई सौंदर्य, सम्मोहन और विराटता के अक्षुण्ण भंडार पहाड़ों की तरफ खिंचा चला जाता है। नशा दोनों में है। एक बार आपने समुद्र या पहाड़ से नाता जोड़ लिया तो यह आसानी से टूटता नहीं, बल्कि हर बार इसका आकर्षण बढ़ता ही रहता है। प्रकृतिप्रेमी जितना अधिक इनके रहस्यों के निकट जाता है, इन्हें और अधिक जानने की उत्कंठा बढ़ती ही रहती है।

सुरेश ब्याला की पुस्तक *हिमालय की ओर* पहाड़ों, खासकर हिमालय की विभिन्न पर्वत

शृंखलाओं के प्रति उनके इसी प्रेम उनकी ललक और उनके नशे की सुंदर, काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। एक पर्वतारोही के लिए पहाड़ क्या मायने रखते हैं इसकी उत्कट अभिव्यक्ति इस महत्वपूर्ण पुस्तक में एक-एक शब्द से मूर्त रूप में झलकती प्रतीत होती है।

जैसा कि पुस्तक की भूमिका में विष्णु प्रभाकर ने लिखा है, 'यह किसी सैलानी का व्याख्यात्मक वर्णन मात्र नहीं है, बल्कि इसमें तो उस देवरत्न हिमालय से हमारे नवयुवक कैसे साक्षात्कार कर सके और कर सकते हैं इसका सहज और सरल भाषा में सुंदर वर्णन हुआ है। पुस्तक में लेखक ने सचमुच आधिकारिक रूप से अपने खुद के अनुभवों को, न केवल सहज और कहीं-कहीं काव्यात्मक भाषा में बयान किया है, बल्कि उन

रोमांचों, चुनौतियों और तकलीफों की तरफ भी इशारा किया है, जो इस तरह के आरोहण करते समय नए और अनुभवी पर्वतारोहियों के सामने पग-पग पर आती हैं।'

पुस्तक में कुल आठ अध्याय हैं। पहला अध्याय है—'चलना संभलना पर्वतों में'। इस अध्याय में लेखक ने पहाड़ों, खासकर बर्फ से ढके पहाड़ों के विभिन्न मूडों की जानकारी दी है। उनका परिचय मिलने पर ही तो हम पहाड़ों से हाथ मिला पाएंगे। जितना अच्छा परिचय होगा, दोस्ती उतनी ही मजबूत होगी। यहां वे रेखाचित्रों के जरिए और शब्दों के जरिए विभिन्न उपकरणों का परिचय देते हैं और उनके इस्तेमाल की विधि बताते हैं। वह सुक्तियों के रूप में पर्वतारोही के काम की छोटी से छोटी लेकिन महत्वपूर्ण बात बताना भी नहीं भूलते। पहाड़ों के क्षण-क्षण बदलने वाले मौसम, हिमस्खलन, दुर्घटनाओं, तूफानों के बारे में आगाह करते हुए कहते हैं : 'हिमालय गलती को क्षमा नहीं करता। उसे धैर्यशील, विवेकी और विनम्र लोगों से प्यार है जिन्हें वह उपहार स्वरूप सफलता भी देता है।'

अध्याय दो से अध्याय छह तक यानी लगभग 135 पृष्ठों में उन्होंने क्रमशः कोकथांग (असम), भगीरथ (लद्दाख), थारकोट और कालानाग की ऊंची-ऊंची पर्वत शृंखलाओं की रोमांचकारी यात्राओं का सुंदर वर्णन किया है। वह जिन समस्याओं और चुनौतियों से कदम-कदम पर दो-चार होते हैं, ये वर्णन इतने सजीव जीवंत और प्रभावशाली हैं कि पाठक को लगने लगता है वह खुद भी लेखक के अभियान दल का एक सदस्य है। अभी थोड़ी देर में उसकी खुद की भी वारी आएगी, जब वह पर्वत की चोटी पर झंडा फहराकर इस विजय अभियान का सहयात्री बनेगा।

इन पृष्ठों में जहां-तहां चुनौतियां हैं, क्षणिक निराशा है, सफलताएं हैं और कुछ कर पा सकने का गर्व है। ये विजय यात्राएं तो हैं ही लेखक अपने साथ-साथ पाठक को भी वहां की भौगोलिक, सांस्कृतिक और प्राकृतिक सौंदर्य की संपदा का हिस्सा बनाता चलता है। चूंकि लेखक दून स्कूल में पढ़ाते हैं इसलिए वह अक्सर अपने अभियान दल में छोटे बच्चों को लेकर गए हैं। वह इन यात्राओं में एक सफल लीडर के रूप में किस तरह उनका हासला बढ़ाते रहते हैं, यह पढ़कर पाठक को बहुत अच्छा लगता है। दरअसल पहाड़ चढ़ने का मतलब सिर्फ दौड़कर चोटी को छूकर आ जाना ही नहीं होता, हम पहाड़ की सोहबत में एक नेक, मददगार, विनम्र और त्याग करने वाले अच्छे इंसान

भी बनते हैं। लेखक की निगाह इन चीजों पर लगातार बनी रही है।

पुस्तक का सातवां अध्याय एक अन्य रोमांचकारी स्पोर्ट—'राफ्टिंग' के बारे में है। यह 'राफ्टिंग' अभियान खुद लेखक के शब्दों में (1) विश्व का पहला 'राफ्टिंग' अभियान तो 14 हजार फुट ऊंचाई से शुरू किया गया, (2) सर्प नदी में पहली बार और 150 कि.मी. की जलयात्रा की गई। (3) विश्व में पहली बार किसी 'राफ्टिंग' अभियान में विद्यालय के विद्यार्थी गए और उनमें भी लेखक की 12 वर्षीय पुत्री भी पहली सदस्या तथा (4) तीन मुख्य नदियों में 15 दिन तक चली जलमय यात्रा।

दरअसल 'राफ्टिंग' इतना रोमांचकारी, आल्हादक और चुनौतियों से भरा 'स्पोर्ट्स' है कि जिसे शब्दों में बयान किया ही नहीं जा सकता। यह तो खुद शामिल होने और अनुभव करने की चीज है। फिर भी ब्याला जी की कुशल लेखनी ने उन सारे अनुभवों, रोमांचकारी क्षणों को पाठकों के लिए सजीव बनाने की पूरी कोशिश की है।

पुस्तक के आखिरी अध्याय में विभिन्न अभियान दलों के सदस्यों की सूची तथा 'राफ्टिंग'

और पर्वतारोहण की तकनीकी शब्दावली अंग्रेजी और हिंदी में दी गई है। वैसे लेखक ने पुस्तक में, जहां भी ये शब्द आए हैं, वहीं उन्हें समझाने की भी कोशिश की है।

पुस्तक उन लोगों के लिए तो उपयोगी है ही, जो किसी न किसी रूप में पहाड़ से, ट्रैकर, माउटेनियर या एडवेंचरर, रॉक क्लाइंबर के रूप में जुड़े रहे हैं। जो लोग पहाड़ से नाता रखना चाहते हैं, लेकिन इनकी विराटता, चुनौती भरा व्यक्तित्व उन्हें आतंकित किए रहता है, उन्हें भी यह पुस्तक भाएगी।

पुस्तक का हिंदी में होना एक अन्य महत्वपूर्ण बात है। इसका व्यापक स्वागत किया जाना चाहिए। हिंदी में पता नहीं क्यों, कहानी, कथा से इतर इन विषयों पर लेखकों की निगाह ही नहीं जाती। या फिर हिंदी जानने वाले घूमते-भटकते नहीं।

पुस्तक सुरुचिपूर्ण, दोपरहित और आकर्षक तरीके से प्रकाशित की गई है। बीच बीच में बर्फ ढके पर्वतों की रंगीन/श्वेत-श्याम पारदर्शियां इसकी उपयोगिता को और बढ़ा देती हैं। □

— सुरज प्रकाश

पत्रिका

चित्रकला व कविता

समकालीन कला : सं. : ज्योतिष जोशी; ललित कला अकादमी, नई दिल्ली;

मूल्य : 140 रु.; पृ. सं. : 112

ललित कला अकादमी की पत्रिका *समकालीन कला* का प्रकाशन वर्ष में दो बार किया जाता है, इस पत्रिका का नवीनतम अंक 'कला और कविता' पर केंद्रित है। कुल 112 पृष्ठों के इस अंक में ललित कला अकादमी के सचिव दीनानाथ पाठी के अनुसार 'कलाकार' कवि और कला समीक्षक यानी एक तरह से समूचे कला जगत के कुछ प्रतिनिधि कृतिकार एक मंच पर उपस्थित हैं।

समूचा अंक तीन खंडों में विभाजित है। पहले खंड में उमेश वर्मा, जगदीश स्वामीनाथन, गुलाम रसूल संतोष सरीखे राष्ट्रीय ख्याति के 14 कलाकारों की 54 कविताएं उनके ही बनाए 42

रेखाचित्रों के साथ पेश की गई हैं। जगदीश स्वामीनाथन की एक कविता 'जलता दयार' की दो पंक्तियां प्रकृति के साथ किए जा रहे मनमाने व्यवहार और विकास की होड़ में पीछे फेंक दिए गए आदिवासियों के दुख-दर्द साझा करती हैं : *ठेकेदार के उस्तरे ने इन पहाड़ों की मुंडिया किस तरह साफ कर दी।* जगदीश स्वामीनाथन की कविताएं उनके अंतर्मुखी कलाकार का वह पहलू सामने लाती हैं जो सामाजिक विडंबनाओं को लेकर सावधान और वोकल है। गुलाम मुहम्मद शेख की 'एक घरेलू दृश्य' और 'स्वप्न में पिता' जीवन की जड़ता का सक्रिय प्रतिवाद हैं। हरिपाल त्यागी की 'वाइस पार का कवि', 'संस्कृति', 'आत्म

संबोधन' दिलचस्प कविताएं हैं। सुमानव की 'अच्छा अब तुम ही बताओ' और शिवनारायण अनिवेद की 'कविता का गांव' उल्लेखनीय कविताएं हैं। कुल मिलाकर यह 'कलाकार-कवि' खंड कुछ उपरोक्त कविताओं के कारण सार्थक लगे तो लगे वरना कविताओं के चयन में भक्तिभाव से ही काम लिया गया है।

दूसरा खंड है—'कवि-कलाकार'। इस खंड में सात कवियों की 45 कविताएं उनके ही बनाए 24 रेखाचित्रों के साथ पेश की गई हैं। महादेवी वर्मा, अज्ञेय, शमशेर, जगदीश गुप्त, मलयज, विपिन अग्रवाल और राजेंद्र किशोर पंडा जैसे कवियों की कविताओं के साथ उनके बनाए चित्रों को देखना एक अनूठा अनुभव है। शमशेर की एक कविता 'वह सलोना जिस्म' को पृष्ठ संख्या 58 पर छापने के बाद पृष्ठ संख्या 60 पर भी छापने का क्या उद्देश्य है, यह समझ में नहीं आ सकता। यदि यह भूल है तो यह किसी दैनिक अखबार की भूल नहीं है जिसे यूं ही ढाल दिया जाए। छह महीनों में एक अंक इस प्रकार की भूलों से बचाकर भी

निकाला जा सकता है।

इस अंक का तीसरा और आखिरी खंड है—'कलासमीक्षक-कवि', इस खंड में 14 ऐसे कला समीक्षकों द्वारा समय-समय पर लिखी समीक्षाएं संकलित हैं जो कविताएं भी लिखते हैं। छोटी-बड़ी 14 समीक्षात्मक टिप्पणियों के साथ 65 कविताएं इस खंड को भरा-पूरा बनाती हैं। इस खंड में कोई चित्र नहीं है।

समकालीन कला का यह 'कला और कविता' विशेषांक कला और कविता के बीच संबंधों पर कोई बहस पेश नहीं करता। जैसे किसी संग्रहालय में पुरानी जंग लगी तलवार और महाराजाधिराज की हस्तलिपि के साथ उस काल की मूर्तियां खोद कर सजा दी जाती हैं वैसे ही सजावटी महत्व की सीमाएं लांघ पाने में यह विशेषांक नाकाम है।

यदि सिर्फ यह बताने के लिए कि कुछ कला समीक्षक और कलाकार कविताएं भी लिखते हैं या कुछ कवि गण कला भी करते हैं, एक विशेषांक

निकाला जा सकता है तब तो विशेषांकों की झड़ी लगाई जा सकती है। ऐसे संगीत समीक्षक व संगीतकार जो कविताएं लिखते हैं और ऐसे कवि जो संगीत में निपुण हैं, के साथ कविता और संगीत अथवा कला और संगीत, कला और नृत्य, कला और वास्तुशिल्प, कला और चिकित्सा, कला और बायोफिजिक्स, कला और जेनेटिक इंजीनियरी, कला और मुद्रणकला, कला और फिल्म आदि-आदि विशेषांक दो विधाओं के पारस्परिक संबंधों पर वैचारिक विमर्श को महत्व दिए बिना निकाले जाएंगे तो इस 'कला और कविता' विशेषांक की तरह ही अपर्याप्त होंगे।

इस विशेषांक के तीसरे खंड से ही उम्मीद थी कि इसमें कुछ विचारणीय बातें होंगी। लेकिन इसमें विनोद भारद्वाज, प्रयाग शुक्ल, अशोक वाजपेयी, पंकज सिंह और मंगलेश डबराल सरीखे चिरपरिचित कला समीक्षकों, कवियों की पूर्व प्रकाशित कला समीक्षाएं, टिप्पणियां ही संग्रहीत हैं।

— इरफान

एक शताब्दी-यात्रा ...

पृष्ठ 35 से आगे

विप्लवा किया, उसका प्रभाव बच्चों पर भी पड़ा। वे समाज में व्याप्त दुहरे मूल्यों के बीच फंस गए। लोगों की कथनी और करनी में भेद देखकर वे अनिर्णय की स्थिति में पड़ने लगे कि वे किसे आदर्श मानें।

समाज के इन सवालोंने भी बच्चों को प्रभावित किया है और प्रभावित कर रहे हैं। ऐसे में बाल साहित्य लेखकों से बाल-पाठक यह अपेक्षा करते हैं कि उन्हें ऐसी रचनाएं पढ़ने को मिलें जिनसे उन्हें अपनी समस्याओं के उत्तर मिलें। तब ऐसी रचनाएं केवल कुछ ही पत्रिकाओं और अखबारों में प्रकाशित हुईं और हो रही हैं। दरअसल बाल साहित्य लेखकों के सामने यह एक चुनौती है और लोककथाओं तथा पौराणिक कथाओं के पुनर्लेखन पर जीने वाले लेखक इसका सामना नहीं कर सके। फिर भी हिंदी बाल साहित्य में आधुनिक जीवन से जुड़ी रचनाएं खूब लिखी गईं और समसामयिक परिस्थितियों को भी उनमें प्रतिबिंबित किया गया। लेकिन समाज में जितनी तेजी से बदलाव आ रहा है, जनसंचार माध्यमों द्वारा जो सांस्कृतिक आक्रमण हो रहा है, समाज में भ्रष्टाचार, हिंसा, बलात्कार जिस तेजी से बढ़ रहे हैं, वे भविष्य के उस भयावह समाज की सूचना दे रहे हैं, जिसे हम अपने बच्चों को देने जा रहे हैं। तब क्या हम उसका मुकाबला करने का साहस देने के लिए सार्थक साहित्य की रचना नहीं करेंगे?

भविष्य के समाज के प्रति यह चिंता केवल हमारी नहीं है, बल्कि विश्व के दूसरे देशों की भी है। समूचे विश्व का जो परिदृश्य आज है—उसे देखकर

विश्व के सभी बड़े देशों के बाल साहित्यकार भी भविष्य के प्रति चिंतित हैं। वे बच्चों को आज के यथार्थ से परिचित कराना चाहते हैं और उन्हें परीक्षाओं की निर्मूल कल्पना से दूर रखना चाहते हैं। बच्चों के सुप्रसिद्ध जापानी लेखक यूसुकी तेशिमा के अनुसार—'आज की व्यस्त जिंदगी में बच्चों के पास भी पढ़ने के लिए ज्यादा वक्त नहीं बचा रहा गया है, इसलिए यह बहुत जरूरी है कि जितना भी वक्त उनके पास है, उस वक्त में उन्हें परियों की कहानियों के रहस्यलोक में जाने से रोका जाए।'

जापान के ही एक अन्य प्रसिद्ध लेखक ताजिमा शिंजी के अनुसार—'हम तो कागज की एक नाव में कैद मुसाफिरो की तरह हैं, जो एक विशाल प्रपात के नीचे, असहाय इधर से उधर थपेड़े खाते धूम रही है। हम बड़े बुजुर्ग किस प्रकार अपने बच्चों को उस महाविपत्ति का अहसास करा सकते हैं जो उनकी हकीकत बनने वाली है! अगर हम इस विनाश को रोकने में असमर्थ रहे और मानवता की नाव को शांत जल की ओर मोड़ न पाए तो अगली पीढ़ी को इस कठिनाई को अपने हाथ में लेकर खतरे के पार जाने को तैयार रहना होगा। मुझे फिक्र है उन बच्चों की, जिन्हें नई शताब्दी का स्वागत करना है। उन्हें इस सोच को विकसित करने से वंचित नहीं रखा जाना चाहिए। यह अलग बात है कि इक्कीसवीं शताब्दी का मुकाबला करने वाले युवाओं के लिए अंधेरे में रोशनी बिखेर देना एक चुनौती भरा काम हो सकता है।'

आज बाल साहित्य के सामने जो चुनौतियां हैं, उनके लिए लेखकों को तैयार होना है और उस नए बाल साहित्य की रचना करनी है जो इक्कीसवीं सदी के द्वार पर खड़े बच्चों को, भविष्य की समस्याओं का मुकाबला करने योग्य बना सके। क्या हमारा बाल साहित्य अपनी इस सार्थकता को सिद्ध करने में सफल होगा?

इस पतझड़ में आना

पृष्ठ 23 से आगे

रातें इसलिए भी सुंदर लगती हैं कि रात में देर तक सड़कों पर चहल-पहल रहती है। अकेली लड़कियां बड़ी वेफिक्री से टहलती-धूमती या आती-जाती दिखाई पड़ती हैं। जहां तक 'लॉ एंड आर्डर' का सवाल है, अब तक यानी पूंजीवाद के आगमन के समय भी बना हुआ है लेकिन यह पुराने समाजवादी दौर का ही प्रभाव है। अब अपराध बढ़ रहे हैं लेकिन वैसे नहीं, जैसे तुम्हारे देश में या मेरे देश में हैं। यहां अखबारों में छपता रहता है कि हंगरी में 'अंडरवर्ल्ड' या अपराध जगत मजबूत हो रहा है लेकिन वे सब या तो रूसी लोग हैं या उक्रेनियन। कुछ अखबारों में मजाक और व्यंग्य जैसे स्वर में यह भी छपा कि 'देखिए, हम हंगेरियन लोग कैसे हैं! हमारे अपराधी तक अपने देश में अपराध जगत का निर्माण नहीं कर सकते, उसके लिए मुक्त बाजार है।'

हंगरी या बुदापेष्ट में अपराधों पर समाजवादी शासन के दौरान जो सख्त रोक लगी थी उसने अपराधियों का सफाया कर दिया था। अब आयात हो रहे हैं। हंगेरियन लोग, अगर तुम मुझसे कसम दिलाकर भी पूछोगे तो भी यही कहूंगा कि बहुत सीधे और शरीफ लोग हैं। आम हंगेरियन धोखा देना तक नहीं जानता। वे ईमानदार लोग हैं। कुछ 'रिजर्व' लग सकते हैं पर परिचय के बाद वह भाव खत्म हो जाता है। मुझे यहां एक बार बैंक में चार सौ डालर फालतू दे दिए गए। फिर वैसे ही फोन किया गया कि आपको चार सौ डालर फालतू दे दिए गए हैं। आप लौटा दीजिए।

सीधेपन के बावजूद हंगेरियन लोगों और यहां के समाज में मैंने पाया कि अच्छे खासे लोग 'एंटी सेमैटिक' हैं। यहूदियों के खिलाफ एक दबी हुई भावना है। क्यों है? उसका पता लगाने की भी मैंने अपने तौर पर कोशिश की है। सुनो, कहना यह है कि यहूदी इतने संगठित हैं तथा एक-दूसरे का इतना ध्यान रखते हैं कि अक्सर उनके फैसले सही नहीं हो पाते। बताया जाता है कि यदि एक संगठन में यहूदी ऊंचे पदों पर होते हैं तो पूरे संगठन में यहूदियों को भर देते हैं। यह काम इतने निर्मम ढंग से किया जाता है कि दूसरे लोग अपमानित महसूस करते हैं। कहते हैं कि हंगेरियन मीडिया तथा बौद्धिक जगत पर भी यहूदियों का कब्जा है तथा उसमें किसी यहूदी के दाखिल होने और ख्याति पाने की संभावनाएं जितनी अधिक हैं उतनी अन्य हंगेरियन लोगों की नहीं हैं।

यही कारण है कि मैंने यहां कुछ लोगों को यहूदियों का विरोधी पाया। हद यह है कि कुछ इस हद तक आ गए हैं कि हंगेरियन यहूदियों को हंगरी से बाहर निकाल देने की बात कहते हैं। इस पर अन्य कुछ लोगों का कहना है कि यदि हंगरी से यहूदी बुद्धिजीवियों को निकाला गया तो यहां तो कोई बुद्धिजीवी न बचेगा।

यहूदियों के खिलाफ ही नहीं बल्कि जिप्सियों, अरबों तथा चीनियों के विरुद्ध भी वातावरण बनाने का प्रयास हो रहा है। अंध-राष्ट्रवादी शक्तियां यहां उतनी तो नहीं जितनी कुछ अन्य देशों में, पर फिर भी उभरकर सामने आ रही हैं। राजनीति और समाज में उनकी आहटों को सुना जा सकता है।

भारतीय मूल के जिप्सियों या रोमा लोगों से मिलने तथा उन्हें देखने-समझने के मैंने कुछ प्रयत्न किए हैं जिसका हाल-अहवाल किसी अगले पत्र में लिखूंगा। अभी लिखने का मन नहीं है क्योंकि पड़ोस के किसी फ्लैट से कुत्ते की रोने या चीत्कार की आवाजें आ रही हैं। कोई अपने कुत्ते को फ्लैट में बंद करके चला गया है। कुत्ता बहुत जोर-जोर से रो रहा है। वैसे आमतौर पर यहां कुत्तों के साथ मानवीय या अति-मानवीय व्यवहार की परंपरा है।

एक समय था ...

पृष्ठ 42 से आगे

करते हैं। 'मैं खुद जाना चाहूंगा' में तो वह अपने पहले जाने की बात स्पष्ट रूप से ही व्यक्त कर देते हैं।

'जीवन के अंतिम दिन' में वह अपने लिखने-पढ़ने के अधूरे कामों को निपटाने की सायास कल्पना करते हैं तो 'मैं मर चुका हूँ' में तो मृत्यु के बाद की स्थिति को भी कल्पना द्वारा साकार कर देते हैं।

मृत्यु संबंधी रघुवीर सहाय की सबसे मार्मिक कविता है—'बटू (पत्नी) को देखकर' :

मैं चाहता हूँ कि मेरे मरने पर तुम रोओ नहीं
यह जान लो कि हम लोग साथ-साथ रह चुके और अब जाता हूँ
जीवन भर जिसे जी सकी हो
तो मर जाने का तुम दुख न करो।

चार पंक्तियों की इस छोटी-सी कविता में जीवन और पत्नी के प्रति कितना गहरा लगाव और मृत्यु के प्रति कितनी गहरी असंपृक्ति! मृत्यु के प्रति ऐसी असंपृक्ति से लिख पाना किसी बड़े कवि के लिए ही संभव था और रघुवीर सहाय बड़े ही नहीं, महान कवि थे और यह महानता उन्होंने जीवन के प्रति गहरे सरोकारों से हासिल की।

जिस जमाने में मुक्तिबोध ने लिखा, वह जमाना जमाने को क्रांतिकारी ढंग से बदलने के सपनों का भी जमाना था और मुक्तिबोध की कविता में भी वे सपने झिलमिलते हैं। इसीलिए हिंदी कविता की क्रांतिकारी धारा ने तो मुक्तिबोध को अपना आदर्श कवि भी माना (रामविलास शर्मा के मुक्तिबोध के नकारात्मक मूल्यांकन के बावजूद)। लेकिन रघुवीर सहाय के काव्य कर्म का जमाना, क्रांतिकारी परिवर्तन न हो पा सकने, बढ़ते हुए अमानवीय तंत्र के यातनामय दौर का जमाना है, इसलिए इस दौर के कवियों के लिए रघुवीर सहाय आदर्श बने जो इस अमानवीय तेज में समाहित कर लिए जाने का प्रतिरोध करते हैं और एक प्रबुद्ध आलोचनात्मक विवेक की मशाल जलाते हैं।

आने वाला जमाना कैसा होगा, नहीं कहा जा सकता, लेकिन उस जमाने में रघुवीर सहाय के प्रबुद्ध आलोचनात्मक विवेक की भी जरूरत होगी व निराला व मुक्तिबोध के क्रांतिकारी परिवर्तन के सपनों की भी। इसलिए हिंदी कविता की मानवतावादी परंपरा को इन सभी कवियों से प्रेरणा की आवश्यकता है और इसीलिए ये तीनों कवि संवेदनाओं में भिन्न होकर भी एक ही परंपरा के अविच्छिन्न अंग हैं। एक समय था के प्रकाशन से यह परंपरा और समृद्ध हुई है और इसलिए इसके प्रकाशन का स्वागत है।

राष्ट्रीय एकता पर प्रकाशन विभाग से प्रकाशित पुस्तकें

भारत के बौद्ध तीर्थ-स्थल संघसेन सिंह / प्रियसेन सिंह	45 रु.	भारत के गुरुद्वारे गुरुबक्श सिंह	40 रु.
भारत में जनसंवाद डा. महावीर सिंह	50 रु.	पैगंबरों की कथाएं इकराम राजस्थानी	13 रु.
भारतीय विज्ञापन में नैतिकता मधु अग्रवाल	45 रु.	अमीर खुसरो डा. सोहनपाल सुमनाक्षर	15 रु.
राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन सत सोनी	22 रु.	समता की ओर मोहनदास नेमिशराय	15 रु.
राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त विजय अग्रवाल	55 रु.	मध्य भारत के लोकगाथा गीत डा. राम प्रकाश सक्सेना	54 रु.
हिंदी साहित्यकार : एक अलबम (चालीस दिवंगत साहित्यकारों के रंगीन चित्र)	400 रु.	हमारी नगरिया मनोहर सिंह बतरा	11 रु.
रसिकप्रिया आचार्य केशवदास कृत	250 रु.	भारतीय जन-जीवन : चिंतन के दर्पण में खंड-एक	40 रु.
भारत के दुर्ग दीनानाथ दुबे	70 रु.	भारतीय हस्तशिल्प परंपरा कमला देवी चट्टोपाध्याय	25 रु.
आदिवासी कला डा. वीरबाला भावसार	20 रु.	संदर्शिका भारतीय लघु चित्रकला प्रमोद गणपत्ये	120 रु.
देशभक्ति के नाटक चिरंजीत	20 रु.	अजंता का वैभव अपनी हिंदी सुधारें	800 रु. 30 रु.
सन् सत्तावन के भूले-बिसरे शहीद भाग-2 डा. विश्वमित्र उपाध्याय	25 रु.	भारत वार्षिक संदर्भ : ग्रंथ 1994	200 रु.

प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओं में से किसी एक पत्रिका का वार्षिक ग्राहक बन जाने पर पुस्तकों की खरीद पर 10 प्रतिशत की छूट। विभिन्न विषयों पर भारत की सभी भाषाओं में उपयोगी पुस्तकें उपलब्ध हैं।

100 रुपए से कम आदेश पर पंजीकरण शुल्क (रजिस्ट्रेशन फीस) अतिरिक्त भेजना होगा। पुस्तकें स्थानीय पुस्तक विक्रेताओं से लें अथवा सीधे लिखें :-

व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग,
पटियाला हाउस,
नई दिल्ली-110001

यू (डी.एन.)-49 प्राप्त

Postal Regn. No. (DL)/12035/96

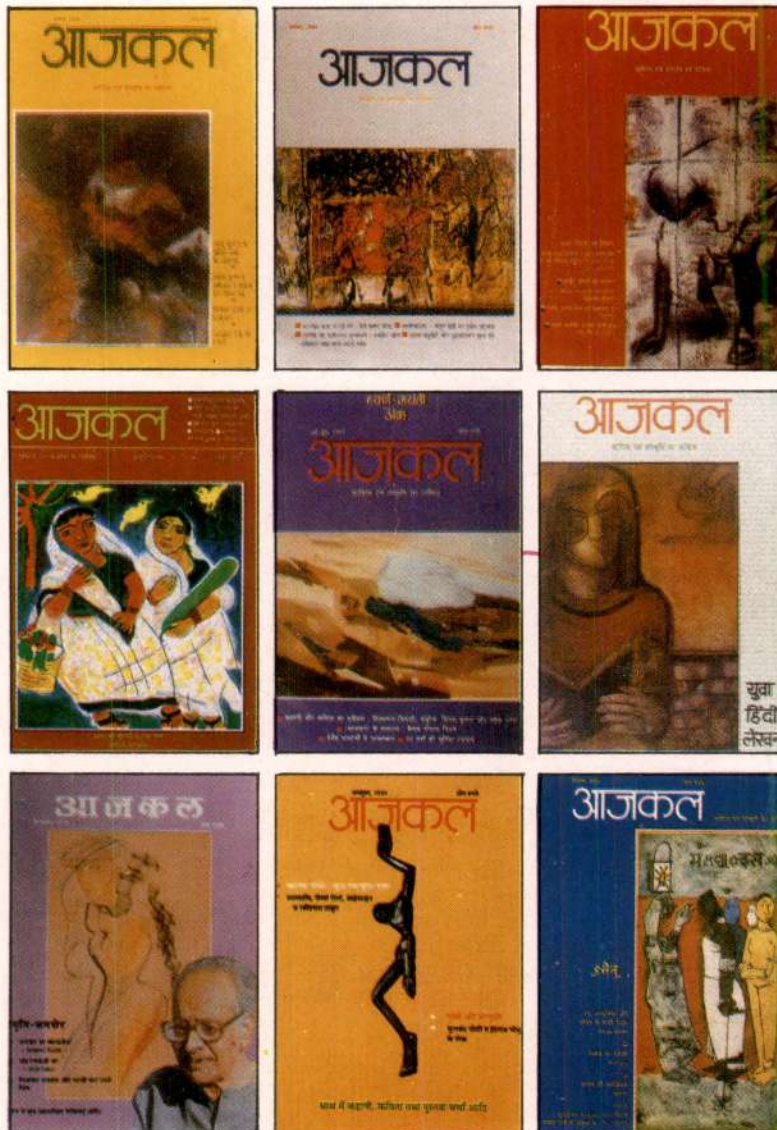
Licenced U (DN)-49 to post without pre-payment at DPSO, Delhi

दिल्ली डाक

Delhi Postal

आर. एन. 701/57

R.N. 701/57



समकालीनता की परंपरा

आजकल

साहित्य एवं संस्कृति का मासिक

निदेशक, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाऊस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित
तथा सैण्ट्रल इलेक्ट्रिक प्रेस, नई दिल्ली-28 में मुद्रित